UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186430

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H570/M265 Accession No. G.H.1516
Author मानस जैन एच.
Title जीवन-रहस्य / 1957
This book should be returned on or before the date last marked below.

अमरीका के प्रख्यात दार्शनिक,
लेखक एवं विचारक
डॉ० जॉन एच० मानस

जीवन-रहस्य

लेखक
डॉ० जॉन एच० मानस
पी-एच० डी०, डी० पिस० इत्यादि
अनुवादक
डॉ० नरेन्द्र चौधरी, डी० लिट्०
सहायक
प्रीतम गिरि गोस्वामी

भारती एसोसिएशन प्रकाशन
गाज़ियाबाद उत्तर प्रदेश

प्रकाशक :
(श्रीमती) रीता चौधरी
भारती एसोसिएशन पब्लिकेशन्स गाजियाबाद उ० प्र०

G.H. 1516

This Health-Series is being published in collaboration with—
PYTHAGOREAN SOCIETY INC.
150 West 60th St. New York
and by special arrangements with the author
Dr. John H. Manas.

Checked 1969

इस पुस्तक के हिन्दी प्रकाशन के सर्वाधिकार भारती एसोसिएशन पब्लिकेशन्स को ही प्राप्त हैं

मूल्य : डेढ़ रुपया
प्रथम संस्करण, १९५७

मुख्य वितरक :
राजकमल पब्लिकेशन्स लि०
८ फैज बाजार दिल्ली
पटना. इलाहाबाद. बम्बई

मुद्रक :
श्री गोपीनाथ सेठ
नवीन प्रेस दिल्ली

विषय-सूची

१. विश्व-जीवन ... ५

प्रकृति और पुरुष का द्वैतवाद—भौतिक शरीर का महत्त्व—स्वास्थ्य का महत्त्व—प्राचीन सभ्यता में स्वास्थ्य का स्थान—अबाधित जीवन-शक्ति ही स्वास्थ्य की आधारशिला है—शारीरिक शक्ति का स्रोत तथा स्वरूप—स्वास्थ्य की भिन्न अवस्थाएँ—सभी शरीरों में एक-रूपता आवश्यक है—लैण्ट (Lent) ईसाइयों के चालीस दिन के उपवास व्रत की उत्पत्ति।

२. स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यक जानकारी ... २६

विटामिन—स्वास्थ्य सम्बन्धी परामर्श—कोष्ठबद्धता को कैसे रोका जाय—नपुंसकता कैसे दूर की जाय—जीना सीखो—उद्भव का सिद्धान्त—मनुष्य के चार भौतिक शरीर—मनुष्य स्वभावतः शाकाहारी है—स्वास्थ्य-नियंत्रण—अपने सबसे बड़े शत्रु से डरो।

३. प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली ४४
(प्राचीन एवं अर्वाचीन)

ज्ञान तथा उसका उत्तरदायित्व—स्वस्थ कैसे रहें—हमारा कर्तव्य—स्वास्थ्य और शांति की प्राप्ति के लिए रहन-सहन का समुचित ढंग—जीवन के प्राकृतिक नियम—अक्षम्य पाप—युद्ध का जन्म—एक ही उपाय—सुख की ओर—विश्व-ज्ञान और मानसिक ज्ञान—मुक्ति।

१

विश्व-जीवन

वह प्रथम घटना, जिससे मनुष्य प्रभावित होता है, जीवन-घटना है। माता के गर्भ से बाहर आते ही इस विस्तृत संसार की उन्मुक्त वायु, प्रथम श्वास के साथ जब उसके वक्ष में प्रवेश करती है, तब उसे अपने पृथक् अस्तित्व का आभास मिलता है और एक अदृश्य रहस्यमयी शक्ति उसे क्रियाशील बनाती है। इसी रहस्यमयी शक्ति की सतत् क्रियाशीलता से प्रभावित होकर वह गतिशील होता है और इसी प्रकार उसके चारों ओर स्थित अन्य प्राणी भी गतिशील होते हैं। इस अदृश्य सर्वसत्ता-सम्पन्न एवं सर्वव्याप्त शक्ति का स्वरूप क्या है और उसका उद्गम कहाँ है ?

यदि कोई मनुष्य रात्रि के समय आकाश की ओर देखे तो वह करोड़ों नक्षत्रों की निर्बाध एवं सांध्वनिक गतिशीलता के विस्मयकारी विराट् दृश्य से अत्यन्त प्रभावित होगा। आकाश से पृथिवी की ओर दृष्टि घुमाने पर भी वही गतिशीलता उसे मनुष्यों में, जन्तुओं में, वृक्षों में, नदियों में, समुद्रों में, वायु में और बादलों में भी दिखाई देगी। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ गति एवं क्रियाशीलता न हो। यदि अण्वीक्ष (Microscope) के द्वारा देखा जाय तो यही गति और क्रियाशीलता जड़ पदार्थों के व्यूहाणुओं (Molecules) और परमाणुओं (Atoms) में भी देखने को मिलेगी।

हम जानते हैं कि गति और कुछ नहीं, केवल एक अदृश्य शक्ति द्वारा द्रव्य के ऊपर तथा उसके अन्तर में, प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में, क्रियाकरण का एक अद्भुत वृश्य-मात्र है। यह रहस्यमयी अदृश्य शक्ति, जो नक्षत्रों की समस्त गति और क्रियाशीलता का कारण है और जो प्रकृति के सभी जड़ पदार्थों एवं प्राणियों का आधार है, ईश्वरीय आत्मा है, जो विश्व के सभी भूत पदार्थों एवं प्राणी वर्ग में व्याप्त है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे चारों ओर स्थित प्रकृति केवल दो मूलभूत आदिम तत्त्वों पर आधारित है। इन्हीं दो तत्त्वों से, जिन्हें आत्मा तथा द्रव्य कहते हैं, समस्त विश्व का निर्माण हुआ है।

समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त आत्मा और द्रव्य, ये दोनों आदिम तत्त्व सब पदार्थों के एकमात्र मूल कारण उस विश्व-रचयिता के ही अलग-अलग स्वरूप हैं। उस सर्वविद, अनाशवान् तथा दो तत्वों से युक्त शक्ति का नाम ईश्वर है। यही ईश्वरीय आत्मा ब्रह्माण्ड के जड़ नक्षत्रों में और तदनुरूप प्रकृति में अवस्थित अनेक रूप तथा आकार के भौतिक पदार्थों में प्रकट होकर जीवन शक्ति कहलाती है। ब्रह्माण्ड में व्याप्त यह रहस्यमयी शक्ति ही समस्त नक्षत्रों में विद्यमान जीवन-तत्त्व तथा प्रकृति में पाई जाने वाली तीनों प्रकार की सृष्टियों अर्थात् खनिज-सृष्टि (Mineral Kingdom), उद्भिज-सृष्टि (Vegetable Kingdom) और प्राणि-सृष्टि (Animal Kingdom) का मूल कारण है।

इस प्रकार ब्रह्माण्ड में व्याप्त इस जीवन-शक्ति को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) **सार्वभौतिक जीवन-शक्ति**—सर्वप्रथम आत्मा से इसी शक्ति की निःसृति होती है, जो दैवी प्रज्ञा के मार्गदर्शन में ब्रह्माण्ड के समस्त दृश्य नक्षत्रों में व्याप्त हो जाती है। यही वह मूल जातरूप शक्ति है जो प्रत्येक नक्षत्र में उत्पन्न और कार्यरत सभी प्रकार के प्राणी वर्ग का पोषण करती है।

(२) **सामूहिक जीवन-शक्ति**—विश्व-सृजन के व्यापार में भेद-करण का सार्वभौम सिद्धान्त ही तीनों प्रकार की भौतिक सृष्टियों में पाए जाने वाले रूप और आकार के अगणित भेद-प्रभेदों का एकमात्र कारण है। इन तीनों प्रकार की सृष्टियों में से प्रत्येक अपने विकास की मात्रानुसार मूलभूत एवं जातरूप जीवन-शक्ति-स्रोत से शक्ति प्राप्त करती है और अपने पदार्थों की आवश्यकताओं के लिए उपयुक्त आवेपन (Vibration) तथा अपनी कोटि के अनुसार उस शक्ति का अवस्थापन करती है। यह कार्य एक पर्यवेक्षी दैवी सत्ता द्वारा अथवा दैवी सत्ताओं के किसी समूह द्वारा, जोकि इस सृष्टि-विशेष का ही एक अंग होती है, सम्पन्न होता है। इसी कारण सभी प्रकार की वनस्पति सृष्टि और प्राणि-सृष्टि के समस्त जीवन-व्यापार में लगभग एक-रूपता है।

(३) **वैयक्तिक जीवन-शक्ति**—मनुष्य, जोकि वैयक्तिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण और सर्वोपरि प्राणी है और जिसका कार्य-व्यापार उसकी आत्मा द्वारा शासित होता है, जन्म के समय ही इस सामूहिक जीवन-शक्ति के विराट् भण्डार से, उस अनन्त स्पन्दित शक्ति-स्रोत से, अपनी आत्मा के चैतन्य के विकास की मात्रा एवं कोटि के अनुसार शक्ति प्राप्त करता है। मनुष्य फिर इस अपरिष्कृत जीवन-शक्ति का अपनी आवश्यकतानुसार अवस्थापन कर लेता है। वह उसे व्यक्तिगत आवेदन की उसी मात्रा में परिवर्तित कर लेता है जो उसके मानव-जीवन के पोषण के लिए आवश्यक है। शक्ति का यह अवस्थापन पृथिवी पर प्रथम मानव के अवतरण के साथ ही प्रारम्भ हो गया था और तत्पश्चात् मानव-उद्भव के करोड़ों वर्षों से यह क्रम निर्बाध गति से चला आ रहा है। आवेपन की सामान्य मात्रा और इस समस्त मानव-समुदाय की सामूहिक जीवन-शक्ति की कोटि पृथिवी-तल पर किसी काल-विशेष में रहने वाली मानव-जाति के उद्भव पर अवलम्बित है।

खेत के पौधे अपने भिन्न परिमाण, आकार तथा अपनी पत्तियों की विशेष बनावट और उनके विशेष रंग के कारण सूर्य की किरणों से प्रकाश तथा उष्णता की भिन्न-भिन्न मात्रा प्राप्त करते हैं। पौधों में विद्यमान खनिज तत्त्व तथा उनकी पत्तियों की बनावट और धरातल के आकार के अनुसार वे सूर्य-रश्मियों से अन्य शक्तियाँ भी प्राप्त करते रहते हैं। ठीक इसी प्रकार प्राणी वर्ग भी, जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित है, अपने सामान्य वैयक्तिक उद्भव के अनुसार प्रकृति की विश्व-जीवन-शक्ति से प्राप्ति की क्षमतानुसार अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता के लिए इस जीवन-शक्ति तथा सौर ऊर्जा की उपयुक्त मात्रा प्राप्त करता है। जीवन के नियमों के ज्ञान तथा उन नियमों को पालन कर व्यवहार में लाने की दक्षता एवं पार्थिव शरीर के नियन्त्रण पर अवलम्बित मानव-उद्भव जितना ही अधिक परिष्कृत होगा उतनी ही अधिक उच्चकोटि की जीवन-शक्ति मनुष्य प्रकृति से प्राप्त कर सकेगा, और उतना ही अधिक अंश उस शक्ति का वह अपने भावी उपयोग के लिए रख सकेगा। मनुष्य की इस वैयक्तिक जीवन-शक्ति को ही मानव-चुम्बकत्व कहते हैं।

प्रकृति और पुरुष का द्वैतवाद

आत्मा और द्रव्य, ये दोनों तत्त्व जहाँ विश्व अथवा ईश्वर अर्थात् विराट् सत्ता (Macrocosm) के मूल तत्त्व हैं, वहाँ उस विराट् के अणुरूप (Microcosm) पुरुष की सृष्टि भी इन्हीं दो तत्त्वों पर आधारित है। आत्मा के तीन रूप हैं—विराट् चेतन-सत्ता अर्थात् पिता, विचारक इच्छा-शक्ति अर्थात् पौरुष, और प्रज्ञान् अर्थात् पवित्र आत्मा। दैवी स्फुलिंगरूप मानव-आत्मा के भी यही तीन रूप हैं—चैतन्य, इच्छा-शक्ति और कारण। ईश्वर और पुरुष में केवल चेतना की मात्रा का अन्तर है। ईश्वरीय चेतना विश्वव्यापी और असीम है, परन्तु पुरुष की चेतना मानवी एवं परिमित है। द्रव्य के भी तीन अन्तर्निहित लक्षण हैं—

जड़ता (Inertia) भेदकरण (Differentiation) तथा वियोजन या विघटन (Disintegration)।

यह एक प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तु का या तो कोई अस्तित्व होता है अथवा नहीं होता। इसके विपरीत तीसरी कोई बात सम्भव नहीं है। यदि हम यह मान लें कि किसी द्रव्य पदार्थ का कोई अस्तित्व नहीं है तो संसार में किसी वस्तु की सत्ता सम्भव नहीं होगी। दूसरी ओर यदि कोई वस्तु वर्त्तमान में विद्यमान है और भूतकाल में उसका कोई अस्तित्व नहीं था, अथवा यदि एक क्षण के लिए भी उसकी सत्ता न रहे, तो किसी भी वस्तु का, जो आज विद्यमान है, अस्तित्व असम्भव हो जायगा, क्योंकि जहाँ कुछ भी नहीं हो वहाँ से कुछ प्राप्त करना असम्भव है। इस कारण वह जो आज विद्यमान है सदैव अनादि और अनन्त रूप में विद्यमान रहा है। वह सदैव था, अभी भी है और भविष्य में भी रहेगा। अतएव द्रव्य शाश्वत है। फिर भी यद्यपि द्रव्य शाश्वत है परन्तु इसमें निरन्तर अनेक परिवर्त्तन होते रहते हैं। परिणामतः समस्त पार्थिव पिण्ड वियोजन तथा परिवर्त्तन के सिद्धान्त के अनुसार नाश को प्राप्त होते रहते हैं और अपने अवयवों को पुनर्योजित कर रूप धारण करने वाली सत्ता अर्थात् आत्मा की शक्ति द्वारा नवीन पिण्डों के रूप में प्रकट होते रहते हैं।

आत्मा का स्थान द्रव्य से ऊँचा है, क्योंकि द्रव्य में आत्मा की ही चेतना है और यही चेतना द्रव्य को भिन्न-भिन्न रूपों में बार-बार प्रकट करती है। इसलिए जब द्रव्य शाश्वत है, तो आत्मा भी शाश्वत है। आत्मा अपरिवर्त्तनशील है, क्योंकि यदि इसमें परिवर्त्तन होता तो इसका कोई आरम्भ भी होता और फिर इस प्रकार यह शाश्वत नहीं हो सकती थी। परन्तु यह सत्य नहीं है, जैसा कि हम अभी-अभी प्रमाणित कर चुके हैं। परिणामतः आत्मा अविनाशी है और समस्त पार्थिव पिण्ड नाशवान।

यह विश्वात्मा अनन्त प्रज्ञावान, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान एवं सर्वविद है; यह अनादि और अनन्त है; यह शाश्वत और अविनाशी है। यही विश्व में विद्यमान समस्त भौतिक पदार्थों का एकमात्र कारण है। मनुष्य अपनी भाषा की अपूर्णता के कारण, अपनी असीम अवधारणा तथा अपने अज्ञान के कारण इसे परमात्मा की संज्ञा देता है और उस पार्थिव दृश्यमान पदार्थ को, जिसके द्वारा यह ईश्वरीय आत्मा प्रकट होती है, द्रव्य कहता है।

मानव-आत्मा भी, जो ईश्वरीय सत्ता का एक दिव्य स्फुलिंग है, अविनाशी है और वह पार्थिव शरीर, जिसके माध्यम से यह प्रकट होती है, प्रकृति के दूसरे पिण्डों के समान नाशवान है। यह मानव-आत्मा प्रकट होने से पूर्व पृथिवी पर किसी उपयुक्त पार्थिव शरीर की खोज करती हुई प्रकृति के किसी अदृश्य नक्षत्रमण्डल में मँडराती रहती है। आत्मा का इस प्रकार भौतिक संसार में आना, जीवन के अनुभवों द्वारा अपने भावी विकास, नवीन गुण, योग्यता एवं नई शक्तियों के उपार्जन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। आत्मा के निजी संघर्ष और दूसरी आत्माओं के साथ इसके परस्पर सम्बन्ध, उनकी भावनाओं, उनके प्रभाव, उनके स्वभाव एवं पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा सांसारिक रुढ़ियों द्वारा ही यह कार्य निष्पन्न होता है। आत्मा के प्रकट होने के लिए उचित देश, वातावरण, परिवार, वंश और शरीर तथा लिंग आदि पुनर्जन्म के सार्वभौम सिद्धान्तानुसार आवश्यक हैं। एक दूसरे प्रसिद्ध सिद्धान्त 'समान वस्तुएँ समान वस्तुओं को आकर्षित करती हैं' का भी आत्मा के अवतरण पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

विश्व में व्याप्त जीवन-शक्ति ही इस अदृश्य आत्मा और भौतिक मानव-शरीरों के पारस्परिक योग का कारण है। ईश्वर ने पृथिवी की धूलि (Matter) से मनुष्य का सृजन किया और उसके नासिका मार्ग से प्राण रूप जीवन (Life Force) का संचार किया तथा इस प्रकार मनुष्य एक जीवधारी प्राणी बना।

भौतिक शरीर का महत्त्व

भौतिक शरीर ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा मानव-आत्मा स्थूल जगत् से अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकती है और स्थूल जगत् मानव-आत्मा से। जितना ही अच्छा और पूर्ण यह उपकरण होगा उतनी ही सुगमता और सुन्दरता से आत्मा इसका उपयोग पृथिवी पर अपने भाग्य-निर्माण के लिए कर सकती है। विकास की मात्रा एवं पारस्परिक प्रभाव पर आधारित आत्मा और शरीर में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पुरातन ग्रीस सभ्यता की आधारशिला यही आधारभूत सत्य एवं प्राकृतिक सिद्धान्त था। सावधानी से किये गए अन्तर्जातीय विवाह, शिशु-पालन की कुशलता, शारीरिक, बौद्धिक एवं मानसिक विकास, समाज तथा देश के लिए शरीर, मन और भावना से पुष्ट स्त्री-पुरुष प्रदान करने सम्बन्धी युवक-युवतियों की शिक्षा, इन सभी महत्त्वपूर्ण विषयों का गहन अध्ययन कर उन्होंने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की थी। वे जानते थे कि स्वस्थ मन का निवासस्थान तथा कार्यक्षेत्र स्वस्थ शरीर ही हो सकता है। स्वस्थ और सुनियन्त्रित शरीर कुशल कलाकार के हाथ में सुन्दर वीणा (Violon) के समान है। ऐसे सर्वांगपूर्ण शरीर में मस्तिष्क, जोकि समस्त उद्दीपन का केन्द्र है और मनुष्य की भावनाओं, मानसिक संयोजनों तथा क्रियाकलापों का मध्य विन्दु है, प्रज्ञान का और भी सुकुमार उपकरण बन जाता है, और प्रज्ञान इसी प्रकार आत्मा का।

मन जैसे एक भली प्रकार अनुशासित मानव-शरीर का नियन्त्रण करता है और हमारी भावनाओं के क्रियाकलापों को भी नियन्त्रित करता है, ठीक उसी प्रकार मन पर हमारी आत्मा की प्रज्ञा का शासन होना आवश्यक है, क्योंकि आत्मा (पैथागोरियन्स का नाउस) ही सर्वोपरि व्यक्तित्व है। यही वास्तविक प्राणी मनुष्य में उद्विकसित होता है।

मन मानव-शरीर का सूक्ष्मतम अवयव है। विचार को, जो मानव-आत्मा की उत्पत्ति हैं, आत्मा के प्रभाव से किसी भी रूप में सुगमता से ढाला जा सकता है। मानव-उद्भव का सबसे बड़ा खतरा उस समय उपस्थित होता है जब आत्मा मन पर नियन्त्रण रखने और शुभ क्रियाओं के सम्पादनार्थ उसे अपना साधन बनाने में असमर्थ रहे। उस अवस्था में मन स्वयं ही एक अलग और स्वतन्त्र सत्ता के रूप में विकसित होकर मनुष्य के मानस-यन्त्र की बागडोर सँभाल लेगा और इस प्रकार आत्मा द्वारा किया जाने वाला नियन्त्रण का कार्य स्वयं करने लगेगा।

इस प्रकार मानसिक तथा बौद्धिक रूप से मनुष्यों का उद्भव होता है। जिन मनुष्यों के मन सतत् प्रयोग, अभ्यास तथा वैज्ञानिक ज्ञान के उपार्जन द्वारा दूसरे हजारों अर्द्ध-विकसित मनों को प्रभावित कर सकते हैं और उनका नियंत्रण कर सकते हैं, इन्हीं स्त्री-पुरुषों से मिलकर हमारा भौतिक वैज्ञानिक वर्ग बनता है। ये लोग ईश्वर की सत्ता में अथवा उसके द्वारा संसार के मार्गदर्शन में विश्वास नहीं करते। सृष्टि का उद्देश्य मनुष्य की आत्मा का आध्यात्मिक विकास है। यह वैज्ञानिक वर्ग केवल उन्हीं तथ्यों को स्वीकार करता है जो विज्ञानशालाओं में स्थूल पदार्थों पर स्थूल यंत्रों के प्रयोग द्वारा प्रदर्शित एवं प्रमाणित हो चुके हैं।

ये लोग वस्तुओं की वास्तविक अवस्थाओं से अनभिज्ञ हैं और जीवन में उनके उपयोग और महत्त्व से अपरिचित।

जब अधिकांश लोग इस सत्य तथा इन सार्वभौम सिद्धान्तों से परिचित हो जायँगे और इन्हें स्वीकार करके अपने दैनिक जीवन में प्रयोग करने लगेंगे तो समस्त विश्व की रूपरेखा स्वतः ही बदल जायगी। रोगों और कष्टों के बाहुल्य तथा मनुष्यों में परस्पर फैली घृणा-भावना और अन्याय का अन्त हो जायगा। वर्त्तमान सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों की विषमता नष्ट हो जायगी और इस

संसार के स्त्री-पुरुष सर्वांगपूर्ण सहज स्वाभाविक जीवन व्यतीत करते हुए भौतिक जीवन में और सच्चे आध्यात्मिक जीवन के आनन्द तथा शान्ति में जो अन्तर है उसे अनुभव कर सकेंगे और जीवन के महान् उद्देश्य को उसके सच्चे अर्थों में समझ सकेंगे।

स्वास्थ्य का महत्व

शारीरिक स्वास्थ्य प्रत्येक व्यक्ति के लिए, प्रत्येक परिवार के लिए, प्रत्येक नगर के लिए, प्रत्येक राष्ट्र एवं जाति के लिए और सामान्यतया समस्त संसार के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु है, क्योंकि उपरोक्त सभी वर्ग वस्तुतः मनुष्य से ही सम्बन्धित हैं। जनसाधारण के लिए स्वास्थ्य का विषय एक अत्यन्त साधारण विषय होने के कारण उदासीनता का कारण बन गया है। अधिकांश व्यक्तियों के लिए उनका इस संसार में जन्म लेने का अभिप्राय केवल शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं मानसिक इच्छाओं तथा वासनाओं की तृप्ति ही है। वे केवल अप्राकृतिक और कृत्रिम पदार्थों के, जो शरीर के लिए अत्यन्त हानिप्रद हैं, खाने, पीने और सूँघने के लिए ही जीते हैं। उनका ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं जाता कि पशु जाति मनुष्य की भाँति नाना प्रकार के खाद्य पदार्थ नहीं खाती। पशुओं और पौधों की प्रत्येक जाति अपने विकास की मात्रानुसार ही खाद्य तत्व ग्रहण करती है। पशुओं और पौधों में एक प्रकार की नैसर्गिक प्रवृत्ति पाई जाती है। यह सर्वज्ञानमयी, सार्वभौम मार्गप्रदर्शिका प्रवृत्ति ही मनुष्य से निम्न कोटि वाले सभी प्राणी वर्ग के जीवन में स्वाभाविक विकास के लिए उनका मार्गप्रदर्शन करती है। व्यष्टिकृत आत्मा होने के नाते मनुष्य स्वेच्छा से अपना कार्य-व्यापार करता है। किन्तु अपनी अज्ञानता तथा मानसिक दुर्बलता के कारण, प्रकृति के मानव-जीवन सम्बन्धी सार्वभौम सिद्धान्तों के प्रतिकूल, इस स्वेच्छा का प्रयोग वह प्रायः अपने विनाश के लिए करता है। प्रकृति के इन सिद्धान्तों के अतिक्रमण के कारण ही मनुष्य

रोग, पीड़ा, दुःख और अन्त में समय से पूर्व ही मृत्यु का शिकार बन जाता है।

पुरातन ग्रन्थों में लिखा है कि किसी वृक्ष की उपयोगिता उसके फलों से जानी जाती है। रोगों की अन्धाधुन्ध वृद्धि से संसार-भर के चिकित्सालय पूर्णतया भरे पड़े हैं। इससे आप भली प्रकार अनुमान लगा सकते हैं कि या तो मनुष्य के रहन-सहन के ढंग में कोई त्रुटि है अथवा वर्तमान चिकित्सा-प्रणाली ही दोष-पूर्ण है। जो भी हो, इनसे उत्पन्न होने वाले दुष्परिणाम पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि ये दोनों ही पूर्णतया असफल रहे हैं। लोगों के आहार को नियमित करने और रोगियों की चिकित्सा प्राकृतिक उपायों से करने के स्थान पर, जोकि स्वास्थ्य-लाभ के सरल और सुरक्षित उपाय हैं, कृत्रिम तथा अप्राकृतिक साधनों का प्रयोग किया जाता है, जो मनुष्य को और भी दुर्बल तथा रोगी बना देते हैं और कभी-कभी तो मृत्यु के मुँह में ही ढकेल देते हैं। प्रकृति स्वयं ही रोगी के रोग का निवारण कर देती है, हाँ यदि रोगी भी प्राकृतिक नियमों का पालन करे। इस पुस्तक के लिखने का उद्देश्य ऐसे लोगों को, जो वास्तव में कुछ जानना चाहते हैं और जानने पर व्यवहार में लाना चाहते हैं, सार्वभौम प्राकृतिक एवं वास्तविक ज्ञान का स्वरूप समझाना तथा यह बतलाना है कि स्वास्थ्य किसे कहते हैं? स्वास्थ्य की प्राप्ति के साधन क्या हैं? किस प्रकार मनुष्य स्वास्थ्य की रक्षा कर सकता है? रोग क्या है? दैनिक जीवन किस प्रकार रोगों से सुरक्षित रह सकता है?

प्राचीन सभ्यता में स्वास्थ्य का स्थान

हमारे ये मन्तव्य उतने ही प्राचीन हैं जितना प्राचीन यह संसार है जिसमें हम रहते हैं। वस्तुतः ये जीवन के मूल सिद्धान्त हैं और इन्हीं सिद्धान्तों पर इस संसार में आदिम सत्ताकाल से जीवन का कार्य-व्यापार होता चला आ रहा है। प्रशान्त सागरीय देशों तथा क्रीट, मिस्र,

फारस, चाइल्डिया और भारत आदि अनेक देशों की प्राचीनतम सभ्यताओं द्वारा इन तथ्यों पर हजारों वर्ष तक अनेक परीक्षण किये गए हैं। यह प्रसिद्ध सिद्धान्त विश्व के सभी प्राचीन एवं अर्वाचीन मनोवैज्ञानिकों द्वारा मान्य है कि स्वस्थ, सुन्दर, सुडौल एवं पुष्ट शरीर के अभाव में वास्तविक ज्ञान और बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास असम्भव है। मनुष्य चाहे कितना ही कठिन परिश्रम कितने ही समय तक करता रहे, चाहे वह कितनी ही उच्च शैक्षणिक डिग्रियाँ एकत्रित कर ले, एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका तथा अनेक मनोवैज्ञानिक और आर्थिक पद्धति के ग्रन्थों को कण्ठस्थ कर डाले, परन्तु उस समय तक उसे वास्तविक ज्ञान और आत्मिक बल की प्राप्ति नहीं हो सकती जब तक वह अपने मन पर नियन्त्रण करना न सीखेगा और अपनी आन्तरिक शक्तियों को पहचानकर उनका विकास न करेगा। ऐसा मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण अपनी इच्छानुसार कदापि नहीं कर सकता, वरन् वह स्वयं अपने ज्ञान का गुलाम बन जायगा। आत्मपूर्णत्व एवं आत्मनियंत्रण की प्राप्ति सहज स्वाभाविक तथा सन्तुलित जीवन द्वारा ही सम्भव है। प्राचीन ग्रीस देश में प्रचलित एक प्रसिद्ध कहावत के अनुसार "स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर में निवास करता है"। प्रकृति के इस सर्वोच्च सिद्धान्त को जीवन में स्थान देकर ग्रीस देश सभ्यता के शिखर पर पहुँच गया था, जहाँ संसार का कोई भी देश आज तक नहीं पहुँच सका।

अबाधित जीवन-शक्ति ही स्वास्थ्य की आधारशिला है

वनस्पति वर्ग, जन्तु वर्ग तथा मानव वर्ग अर्थात् प्रत्येक जीवधारी में वही जीवन-शक्ति विद्यमान है जो इस विराट् ब्रह्माण्ड के अणु-अणु में व्याप्त है। यह सार्वभौम चेतन-शक्ति उन समस्त जीवों की सत्ता का कारण है जो अपने भाग्य-निर्माण एवं अपने उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त कुछ निश्चित प्राकृतिक नियमों के मार्गदर्शन में उद्विकसित होते हैं।

इस भौतिक संसार के प्रत्येक प्राणी में निहित जीवन की यह अबाधित अवस्था उसके नियमित और क्रमिक विकास की उचित और प्राकृतिक अवस्था है। वनस्पति वर्ग, जन्तु वर्ग तथा मानव वर्ग में विद्यमान जीवों में इस प्रकार की सहज स्वाभाविक अवस्था होने पर हम उन्हें स्वस्थ कहते हैं और उनकी इस अवस्था का नाम ही स्वास्थ्य है।

समस्त प्राकृतिक पदार्थों एवं प्राणी वर्ग का नियंत्रण एक विशिष्ट क्रम, एक निश्चित ढंग तथा कुछ सार्वभौम नियमों द्वारा होता है। उन पदार्थों एवं प्राणी वर्ग की सत्ता इन्हीं नियमों पर आधारित है। जब किसी प्राणी का कोई आन्तरिक प्रभाव, कोई उद्दीपक तत्त्व अथवा कोई बाह्य कार्य उसकी सामान्य प्राकृतिक अवस्था में अकारण ही बाधक होता है तो वह प्राणी एक अप्राकृतिक अवस्था को प्राप्त होता है। यह नई अवस्था उस प्राणी अथवा पदार्थ के पूर्व स्वाभाविक सन्तुलन और उसकी प्राकृतिक कार्य-प्रणाली को छिन्न-भिन्न करके अन्ततः उसके स्वास्थ्य को नष्ट कर देती है। इस प्रकार इस नई अवस्था के अप्राकृतिक तथा अस्वाभाविक प्रभाव के कारण रोगों की उत्पत्ति होती है और हम कहते हैं कि अमुक जीव, पौधा, जन्तु अथवा मनुष्य रोगी है।

एक स्वस्थ शरीर के विभिन्न अवयवों एवं सूक्ष्म कोशों में जीवन-शक्ति अबाध रूप से प्रवाहित होती रहती है तथा अपना कार्य करती रहती है। इसी क्रिया के परिणामस्वरूप शरीर में बल तथा कार्य करने की उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है। इसे हम जीवन का लक्षण कहते हैं। अस्तु स्वस्थ पौधा बढ़ता है, स्वस्थ घोड़ा दौड़ता है, स्वस्थ बकरी ही पर्वत पर चढ़ती है, स्वस्थ हाथी ही अधिक बोझा ले जाता है और स्वस्थ मनुष्य ही सोचता है। अतः हम देखते हैं कि यदि हम स्वस्थ बनना चाहते हैं तो हमारे शरीर तथा शरीर के विभिन्न अवयवों में विश्व-शक्ति की अधिकतम मात्रा को, जिसका सन्तुलन हम सुगमता से कर सकते हैं, आकर्षित कर धारण करने की क्षमता होनी चाहिए।

यह शक्ति अबाध रूप से प्रवाहित होती रहती है और प्रकृति के अणु-अणु में ओत-प्रोत है। इस प्रकार मनुष्य चेतन सत्ता के विश्व-कोश से सम्पर्क स्थापित कर लेता है।

हम अपनी क्षमतानुसार ही इस जीवन-शक्ति की उतनी मात्रा को अपने शरीर में धारण करते हैं, जो हमारे विचारों की उत्कृष्टता और शारीरिक अवयवों की सर्वाङ्गीण परिपुष्टता से मेल खाती हो। शरीर की यह अवस्था उन पदार्थों पर निर्भर है जो हम खाते, पीते तथा श्वास-क्रिया द्वारा शरीर में प्राप्त करते हैं। यही पदार्थ हमारे कोशों के निर्माण और जीर्णोद्धार का कारण है।

शक्ति से पूर्ण एक स्वस्थ शरीर की तुलना हम मोटर गाड़ी के वायु से भरे टायर के साथ कर सकते हैं। जितनी देर टायर में हवा पूरी तरह भरी होगी वह गाड़ी के भार को वहन कर सकता है, परन्तु टायर की वायु निकलते ही वह पिचक जाता है और पहिये की गति रुक जाती है। हम कहते हैं, गाड़ी टायर के कारण बीमार हो गई। ठीक इसी प्रकार मानव-शरीर भी शक्ति के ह्रास होने पर दुर्बल और रोगी हो जाता है।

शारीरिक शक्ति का स्रोत तथा स्वरूप

यह एक सामान्य धारणा है कि जो भोजन हम खाते हैं, वह हमारे शरीर को शक्ति प्रदान करता है और यही शक्ति हमारे शरीर का पोषक तत्व है। इसी सर्वसम्मत एवं चिरप्रमाणित तथ्य पर खाद्य कैलोरी (Food calories) का सिद्धान्त आधारित है, जिसके अनुसार कुछ विशेष प्रकार की खाद्य कैलोरी ही शरीर को शक्ति प्रदान कर उसका समुचित पोषण कर सकती हैं। परन्तु हमारी धारणा यह है कि भोजन से हमें किसी प्रकार की शक्ति प्राप्त नहीं होती। शारीरिक बल एवं जीवन-शक्ति हमें प्रकृति और उस वायु से, जिसमें हम सांस लेते हैं, प्राप्त होती है, भोजन से नहीं।

अब हम आपको यह बतलायेंगे कि हमारे इस मन्तव्य का आधार

क्या है। सभी इलैक्ट्रिक इंजीनियरों की यह धारणा है कि वे बिजली के जेनरेटर द्वारा बिजली उत्पन्न कर सकते हैं। वस्तुतः बिजली एक तरल शक्ति है जो विश्वव्यापी ईथर के रासायनिक भाग के माध्यम से प्रकृति में रमी हुई है। हमारे विद्युत् जेनेरेटरों का कार्य सार्वभौम विद्युत् शक्ति को एकत्रित करना अथवा उससे सम्पर्क स्थापित करना और फिर इसे दो तारों अथवा ध्रुवों—धन ध्रुव (Positive Pole) तथा ऋण ध्रुव (Negative Pole)—में सन्नद्ध कर देना है, और इस प्रकार मनुष्य बिजली का उपभोग करने लगता है। जब तारों में बिजली होती है और बिजली का बल्ब अच्छी हालत में होता है तब यह शक्ति विद्युत् प्रकाश के रूप में प्रकट होती है। परन्तु जब तारों में, कनेक्शनों में अथवा बल्ब में कोई खराबी होती है तो प्रकाश नहीं होता। उस समय हम कहते हैं कि बल्ब बीमार (खराब) हो गया है और यदि बल्ब के अन्दर का बारीक तन्तु-जाल टूट जाता है तो विद्युत् प्रकाश नितान्त असम्भव हो जाता है। यह अवस्था बल्ब की मृत्यु है। ठीक यही बात मानव-शरीर के लिए भी कही जा सकती है, क्योंकि सार्वभौम जीवन-शक्ति के, जो शरीर में व्याप्त होकर उसे चैतन्य प्रदान करती है, शरीर से पृथक् हो जाने पर मानव-शरीर की मृत्यु हो जाती है।

जहाँ तक जीवन-शक्ति, शारीरिक बल एवं भोजन का सम्बन्ध है हमारी धारणा है कि भोजन से केवल घिसे हुए शरीर-कोशों (Cells) का जीर्णोद्धार होता है, जिससे कि वे उस शक्ति का संचय कर सकें जो उनमें प्रवाहित होकर उनका अस्तित्व बनाए रखती है। शरीर-कोश उन ईंटों के समान हैं जिनका प्रयोग हम किसी दीवार के सूराखों को बन्द करने के लिए करते हैं। इसलिए मनुष्य को अपने भोजन के चुनाव में तथा उसके प्रकार, संयोजन बनाने की रीति और उसमें विद्यमान खाद्य-तत्त्व (Vitamins) तथा खनिज लवणादि जोकि मनुष्य के शरीर में भोजन के साथ प्रवेश करते हैं, के विषय में विशेष ध्यान देना चाहिए।

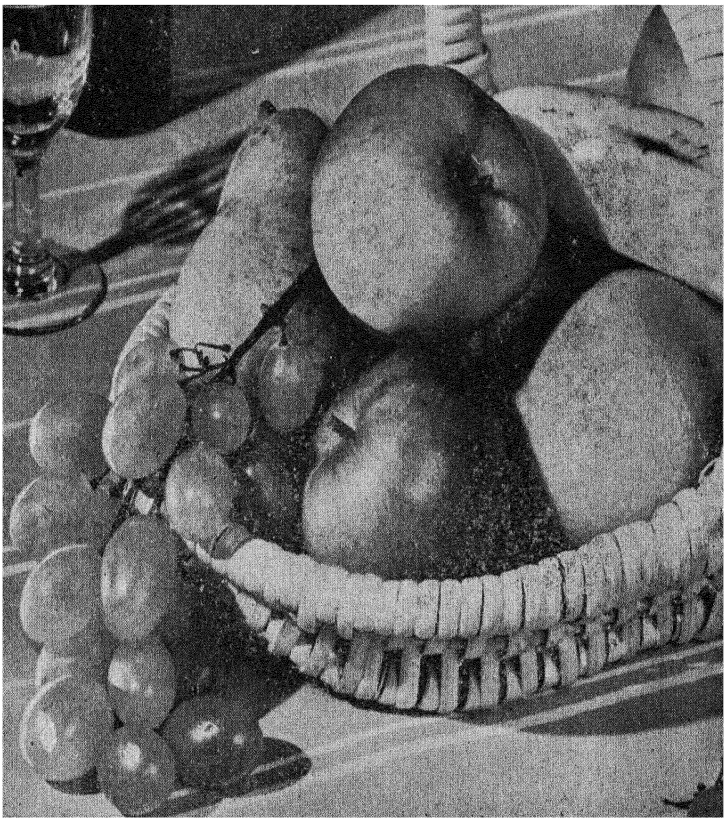

मनुष्य को अपने भोजन के चुनाव में विशेष ध्यान देना चाहिए। शाकाहारी भोजन ही मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए अति उत्तम है।

हमारे भोजन में विद्यमान कार्बोहाइड्रेट्स (Carbohydrates) तथा वसा (Fats) के जलने से हमारे शरीर में जो उष्णता निरन्तर उत्पन्न होती रहती है वह उस जीवन-शक्ति के लिए उपयुक्त तापमान का काम देती है जो शरीर में जाने वाली वायु तथा भोजन के ईथर प्रतिरूप से निकलती है।

इस महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक नियम के ज्ञान और उस ज्ञान की कार्य-रूप में परिणति द्वारा हम प्रकृति से शारीरिक बल की समुचित मात्रा तथा उपयुक्त किस्म प्राप्त करके शरीर में धारण कर सकते हैं। (यदि हम अपनी भावनाओं और मानसिक अवस्थाओं पर उचित नियन्त्रण रख सकें) तो शारीरिक शक्ति की इस राशि, इसकी कोटि तथा उचित संतुलन के परिणामस्वरूप हम पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति कर सकते हैं। इसलिए हम जितना कम भोजन करेंगे, उतना ही अधिक सुखी होंगे। उपवास के अनेक परीक्षणों द्वारा यह बार-बार सिद्ध हो चुका है कि पूर्णतया भोजन त्याग देने के कई दिन पश्चात् मनुष्य पूर्वापेक्षा अधिक शारीरिक सुख का अनुभव करता है और उसकी शारीरिक शक्तियाँ भी पहले की अपेक्षा तीव्रतर हो जाती हैं। यह सार्वभौम जीवन-शक्ति के प्रवाह में बाधक अनेक मलों एवं विषों के शरीर से निकल जाने का परिणाम है। कई बार रोगी को भोजन देने पर वह मर जाता है, क्योंकि उसके शरीर के कोश अत्यधिक फैल जाते हैं और अन्त में भोजन की उष्णता से ये कोश फट जाते हैं। इनके फटने पर जीवन-शक्ति बाहर निकल जाती है। यह क्रिया ठीक उसी प्रकार होती है जैसे पानी से भरे हुए किसी बर्तन को हथौड़े के प्रहार से तोड़ दिया जाय। स्वास्थ्य का रहस्य तथा उसे सुरक्षित रखने के उपाय इन्हीं सार्वभौम तथ्यों पर आधारित हैं।

जिस प्रकार स्पंज के रेशों में भरा हुआ जल उसके पूर्ण आकार को प्रकट करने में सहायक होता है, और फिर कई प्रकार के कार्यों में उसका उपयोग भी किया जा सकता है, इसी प्रकार मनुष्य-शरीर भी

विश्व-जीवन-शक्ति से ओत-प्रोत है और उसी द्वारा गतिशील है।

जब मनुष्य को क्रोध आता है तो यह जीवन-शक्ति सूर्य-प्रतान (Solar Plexus) तथा शरीर के आन्तरिक अवयवों से परिणाह (Periphery) की ओर तेजी से दौड़ती है, और एक आग्नेय विस्फोट के रूप में फटकर शरीर के ढाँचे को अस्त-व्यस्त कर देती है तथा अनेक शरीर-ग्रन्थियों के कार्य-व्यापार को उलट देती है। इस प्रकार शारीरिक बल का ह्रास हो जाता है। यही कारण है कि क्रोध की दशा में मनुष्य की भूख नष्ट हो जाती है। यह प्रकृति की ओर से मनुष्य को एक चेतावनी है, जिसका अर्थ यह है कि आमाशय में अथवा पाचन-क्रिया से सम्बन्धित अन्य शारीरिक अवयवों में भोजन को पचाने के लिए पर्याप्त बल नहीं है। यदि प्रकृति की उपयोगी चेतावनी की उपेक्षा करके भी हम भोजन करते हैं तो शरीर की विषम परिस्थिति के कारण खाये हुए भोजन को हम पचा नहीं सकेंगे और इसके परिणामस्वरूप वह शारीरिक बल, जिसकी हमें ऐसे अवसर पर और भी अधिक आवश्यकता थी, व्यर्थ ही नष्ट हो जायगा और अंतड़ियाँ लसिका वाहिनी (Lymphatic Vessels) के लिए पर्याप्त द्रव्य नहीं चूस सकेंगी।

आमाशय की पाचन-क्रिया को बनाये रखने के लिए दूसरी आवश्यक बात यह है कि भोजन को भली प्रकार चबाकर खाया जाय। ऐसा करने से न केवल भोजन एक तरल पदार्थ के रूप में परिवर्तित हो जाता है, बल्कि उस चबाये हुए भोजन में मुँह की लार (Saliva) भी मिल जाती है। पाचन-क्रिया जब भोजन मुँह में ही होता है तभी प्रारम्भ हो जाती है।

भोजन को भली भाँति पचाने के लिए और उसके ईथरीय प्रतिरूप (Etheric Counterpart) में से अधिकाधिक शारीरिक बल उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि जो भोजन हम खाते हैं रुचि के साथ खायें और खाते समय एक आनन्द का अनुभव करें। भोजन करते समय मनुष्य की यह भावना होनी चाहिए कि जो भोजन वह खा

रहा है वह अत्यन्त पौष्टिक है, और भोजन के साथ प्रकृति भी उसके शरीर में बल का संचार कर रही है। भोजन करते समय प्रसन्न चित्त रहना बड़ा हितकर है। भोजन करने में अत्यधिक समय भी नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि जो भोजन आरम्भ में खाया गया था वह जब पाचन की प्रथम अवस्था में होता है, तब आध घण्टे या एक घण्टे पश्चात् खाया गया भोजन का अन्तिम भाग शरीर में प्रवेश करता है।

भोजन जितना ही सादा होगा उतना ही सुपाच्य होगा, क्योंकि प्रत्येक प्रकार के भोजन को पचाने के लिए एक निश्चित समय लगता है। यदि भिन्न-भिन्न प्रकार के ऐसे भोजनों से पाँच या छः बार आमाशय को ठूँस-ठूँसकर भर लिया जाय, जिनमें से प्रत्येक का पाचन-समय अलग-अलग हो, तो उससे होने वाले दुष्परिणाम का आप स्वयं अनुमान लगा सकते हैं। अधिकतर तो ये भिन्न-भिन्न प्रकार वाले भोजन एक साथ खाये जाने पर भी एक-दूसरे से मेल नहीं खाते। स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों के उल्लंघन एवं दुरुपयोग से हमारी शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है और धीरे-धीरे हम संक्रामक अजीर्ण रोग, आमाशय के व्रण और अन्यान्य रोगों में फँस जाते हैं। उचित भोजन द्वारा तथा इन दैनिक जीवनोपयोगी सुझावों पर ध्यान देने से, जोकि उत्तम स्वास्थ्य की आधारशिला हैं, हम इन रोगों से दूर रह सकते हैं।

स्वास्थ्य की भिन्न अवस्थाएँ

सभी प्राणियों में स्वास्थ्य की दशा एवं श्रेणी एक समान नहीं होती। पौधों में स्वास्थ्य की मात्रा अधिक होती है, उससे कम जन्तुओं में और सबसे कम मनुष्यों में होती है। आखिर क्या कारण है जो मनुष्यों के स्वास्थ्य में यह कमी पाई जाती है? गुण-विभाजन (Metaphysical Law) के अनुसार प्राणी जितना ही पूर्ण एवं स्व-नियन्त्रण में जितना ही अधिक स्वतन्त्र होगा, प्रकृति उसका मार्ग-प्रदर्शन उतना ही कम करती है। स्वनियन्त्रण के लिए कोई प्राणी अपने

आत्मिक समूह से जितनी अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त करता है, उतना ही अधिक उसका व्यक्तिगत उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। मानव-उद्भव के सम्बन्ध में मनुष्य की स्वेच्छा का रहस्य इसी सर्वोपरि सार्वभौम सिद्धान्त पर आधारित है। अपने कामों के उत्तरदायित्व और उनके अच्छे-बुरे परिणामों के प्रति जागरूक रहने पर मनुष्य का चरित्र ऊँचा उठता है। यह जागरूकता ही उसके विकास-संघर्ष में उसका अजेय शस्त्र है।

वनों में रहने वाले जंगली जन्तु, जिनका जीवन-व्यापार प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलता है, उन अगणित रोगों और व्याधियों के शिकार नहीं होते जो मनुष्यों में सामान्यतया पाई जाती हैं। पशु अपनी शारीरिक शक्ति को वृद्धावस्था तक, बल्कि मृत्यु-पर्यन्त कायम रखते हैं। पशुओं के लिए सबसे खतरनाक अवस्था वह होती है जब आत्म-रक्षा के निमित्त संघर्ष करते हुए उनके शरीर में घाव हो जाते हैं। परन्तु प्रकृति से प्राप्त नैसर्गिक प्रवृत्ति द्वारा अनेक तरीकों से ये अपने घावों का अच्छा कर लेते हैं। पशु जितने ही अधिक मनुष्य के सम्पर्क तथा प्रभाव में रहेंगे और मनुष्य के रहन-सहन के अप्राकृतिक तरीकों का अनुसरण करेंगे, वे उतने ही अधिक कमज़ोर हो जायँगे और बीमारियों तथा समय-पूर्व मृत्यु के उतनी ही आसानी से शिकार बनने लगेंगे।

सर्वसाधारण इस बात को जानते हैं कि जब कोई जंगली सूअर अथवा अन्य जंगली जानवर जख्मी हो जाता है तो वह तुरन्त ही पास की किसी नदी या तालाब की ओर दौड़ जाता है और अपने जख्मों को पानी और कीचड़ से ढक लेता है। इस प्रकार अपनी नैसर्गिक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ही वह घावों पर कीचड़-लेपन का इलाज करता है। पानी घाव को धोकर साफ करता है, कीचड़ उसे बाहरी वायु के सम्पर्क में आने से बचाता है, और इस प्रकार रोग-संक्रान्तता (Infection) का भय नहीं रहता। कीचड़ के माध्यम से वह अपने शरीर में पृथिवी के चुम्बकत्व को ग्रहण करता है। ये दोनों तरीके उस जानवर के घावों को अच्छा करने में सहायक होते हैं। कुत्ते

और बिल्लियाँ जब बीमार पड़ते हैं तो वे सब प्रकार के भोजन का परित्याग कर देते हैं। यदि वे गाँव में होते हैं तो किसी खेत में जाकर एक गड्ढा खोद लेते हैं और एक-दो दिन उसीमें पड़े रहते हैं। इस उपवास और पृथिवी के निकट सम्पर्क द्वारा वे पुनः आरोग्य हो जाते हैं। इस प्रकार नैसर्गिक प्रवृत्ति के रूप में प्रकृति उनका मार्ग-दर्शन करती है।

कुछ विशेष रोगों से पीड़ित होने पर पशुओं को बहुधा खेतों में जाकर कोई जड़ी-बूटी ढूँढ़ते देखा गया है, जिसके खाने से वे फिर स्वस्थ हो जाते हैं। पशुओं की भाँति मनुष्यों को प्रकृति का यह मार्ग-दर्शन बहुत ही कम मात्रा में प्राप्त होता है, क्योंकि मनुष्य स्वेच्छा और युक्ति से अपना कार्य-व्यापार करता है।

गधे जब काम से लौटकर अस्तबल में आते हैं तो पीठ से बोझा उतरते ही वे पीठ के बल पृथिवी पर लेट जाते हैं और अपने शरीर को लम्बा फैलाकर अपनी आयु और शक्ति के अनुसार इधर-उधर करवटें लेते हैं। इस क्रिया के पश्चात्, जिससे मनुष्य नितान्त अनभिज्ञ है, फिर वे कई लम्बे-लम्बे साँस लेते हैं, कई बार शरीर को पूरी तरह लम्बा फैलाकर पुनः ढीला छोड़ देते हैं। बार-बार इस क्रिया को दोहराने के पश्चात् अन्त में वे खड़े होकर अपने शरीर को झटके के साथ हिलाते हैं और इस क्रिया से पूर्ववत् चुस्त बन जाते हैं। उनकी थकान दूर हो जाती है और फिर वे खाना प्रारम्भ करते हैं। इस प्रकार प्रकृति नैसर्गिक प्रवृत्ति के रूप में गधों तथा अन्य पशुओं की शारीरिक थकान मिटाने के लिए उनका मार्ग-दर्शन करती है। मेरुदण्ड के व्यवस्थापन तथा शरीर के अंगों को फैलाने, ढीला छोड़ने और लम्बे-लम्बे श्वास लेने की इन क्रियाओं द्वारा वे अपने शरीर की थकान को दूर करके नई शक्ति प्राप्त करते हैं। इन पशुओं के समान ही मनुष्य भी इन व्यायामों द्वारा लाभान्वित हो सकता है।

सभी शरीरों में एकरूपता आवश्यक है

भोजन की समस्या, उसकी किस्म, पकाने का ढंग, खाने का तरीका तथा समय और सामान्यतया रहन-सहन का सही ढंग जीवन की महानतम समस्याओं में से एक है। आधुनिक समाज के अनेक बन्धनों, अपने विभिन्न दायित्वों, अज्ञान तथा कमज़ोरियों के कारण मनुष्य अत्यन्त उतावलेपन में जीवन के इन अत्यन्त आवश्यक तथ्यों की उपेक्षा करता रहा है। यदि मानव-शरीर पर दीर्घकाल से लादी गई इन अनेक बुराइयों पर दृष्टि डाली जाय और शरीर की आश्चर्यजनक सहन-शक्ति का अनुमान लगाया जाय तो जीवन-शक्ति के उस अनन्त शक्ति-भण्डार का तथा प्रकृति द्वारा मानव-शरीर की रक्षार्थ निरन्तर संघर्ष का, जिसे मनुष्य स्वयं प्रतिदिन नष्ट करने पर तुला हुआ है, पता चलेगा।

मुर्गी-पालन के फार्मों पर नियुक्त कार्यकर्त्ता मुर्गियों के भोजन की मात्रा तथा किस्म और खाद्य तत्त्वों के परस्पर अनुपात, काम करने तथा सोने के लिए उचित समय, पीने के लिए समुचित जल, उचित प्रकाश, अण्डे देने की क्षमता में वृद्धि आदि इन सभी बातों की व्यवस्था निर्धारित आँकड़ों के अनुसार करता है। ये सभी कार्य वैज्ञानिक ढंग से सम्पन्न किये जाते हैं और इनमें उपयुक्त आँकड़ों का दृढ़ता से पालन किया जाता है। इस प्रकार मुर्गियों तथा उनके शिशुओं के स्वास्थ्य, उनकी नस्ल तथा आकार में यथेष्ट सुधार होता है। फिर क्या कारण है कि यही नियम मनुष्यों के भोजन के सम्बन्ध में भी क्यों नहीं बरते जाते ? और अपनी भावनाओं तथा विचारों में नियंत्रण तथा एकरूपता लाने के लिए अभ्यास क्यों नहीं किया जाता ?

लैण्ट (Lent) ईसाइयों के चालीस दिन के उपवास व्रत की उत्पत्ति

अनेक धर्मों के प्रवर्तकों तथा प्रचारकों ने कुछ खाद्य एवं पेय

पदार्थों को उपयोग के लिए वर्जित घोषित कर दिया है। ऐसा उन्होंने स्वास्थ्य-हित को दृष्टि में रखकर ही किया है। इसी विचार से ईसाई धर्माचार्यों ने चालीस दिन पर्यन्त उपवास व्रत (Lent) को प्रचलित किया। जब मनुष्य अपने अज्ञान, चरित्र की कमज़ोरी तथा अहंकार के बशीभूत होकर प्राकृतिक नियमों का निजी भलाई के लिए भी पालन नहीं करता, तो उस समय इन्हीं धार्मिक तथा मनुष्य-कृत नियमों का भय ही उसे अपने लिए हितकारी नियमों का पालन करने पर मजबूर करता है।

भोजन के अतिरिक्त मनुष्य की विचारधारा और उसके विचारों तथा भावनाओं की गहनता का पर्याप्त रासायनिक प्रभाव भोजन के पाचक अवयवों से रक्त-शिराओं में प्रवेश के समय उत्पन्न पयोलस (Chyle) तथा आँव (Chyme) पर पड़ता है। तदनुसार भोजन तथा भोजन में विद्यमान पौष्टिक तत्त्वों में परिवर्तन की एक क्रिया आरम्भ हो जाती है। यदि मनुष्य की भावनाएँ दूषित हैं और विचारधारा हानिकारक है तो शरीर में स्थित आँव विषाक्त हो जाता है। इसी प्रकार रक्त की नालियों में प्रवाहित रक्त भी विषाक्त हो जाता है। खरगोश के शरीर में क्रोधित मनुष्य के पसीने के इंजेक्शनों द्वारा यह प्रमाणित किया जा चुका है कि इन इंजेक्शनों के देने से खरगोश की मृत्यु हो जाती है।

उपरोक्त बातों पर विचार करने से हमें प्रकृति के प्रति अपने कर्तव्य अर्थात् अपने स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता का ज्ञान होता है। इस कर्तव्य-पालन के अतिरिक्त, एक स्वस्थ पुरुष अथवा स्त्री के आनन्द, हर्ष, आज़ादी तथा संतोष का अनुमान लगाना अत्यन्त कठिन है। मैं आपसे बार-बार यही कहूँगा कि स्वास्थ्य संसार के समस्त खजानों से अधिक मूल्यवान है।

२

स्वास्थ्य सम्बन्धी आवश्यक जानकारी

मनुष्य-शरीर निम्नलिखित १६ तत्त्वों से मिलकर बना है। १०० पौण्ड वाले शरीर में इनका अनुपात इस प्रकार है—

ऑक्सीजन	६५%	सोडियम	०,१५%
कार्बन	१८%	क्लोरीन	०,१५%
हाइड्रोजन	१०%	मैग्नीशियम	०,०५%
नाइट्रोजन	३%	आयरन	०,००४%
कैलशियम	१५%	मैंगनीज़	०,००३%
फास्फोरस	१%	आयोडीन	०,०००४%
पोटेशियम	०,३५%	सिलीकरण	
सल्फर	०,२५%	फ्लोरीन	

उपरोक्त तत्त्वों के प्रतिदिन शरीर में पहुँचने के अतिरिक्त मनुष्य-शरीर को एक विशेष अनुपात में विटामिन की भी आवश्यकता है, जो भोजन तथा पेय पदार्थों द्वारा उसे प्राप्त होते रहते हैं। उपरोक्त १६ तत्त्व मनुष्य-शरीर को वायु से, जिसमें वह साँस लेता है, जल से, जिसे वह पीता है तथा निम्नलिखित चार प्रकार के खाद्य तत्त्वों से प्राप्त होते हैं—(१) प्रोटीन, (२) कार्बोहाइड्रेट्स, (३) हाइड्रो-

कार्बन्स और (४) ऑर्गेनिक मिनरल्स। इन खाद्य तत्त्वों तथा जल एवं वायु की दैनिक मात्रा शरीर में पाये जाने वाले १६ तत्त्वों के उचित अनुपात में ही होनी चाहिए।

(१) **प्रोटीन** में ऑक्सीजन, कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, फास्फोरस और सल्फर होते हैं। ये सब तत्त्व सब प्रकार के गोश्त, मछली, मुर्गी, दूध तथा अन्य दूध से बने समस्त पदार्थों में और कड़े छिलके वाले फलों (Nuts) तथा फलियों में पाये जाते हैं।

(२) **कार्बोहाइड्रेट्स** में ऑक्सीजन, कार्बन और हाइड्रोजन आदि तत्त्व होते हैं। ये तत्त्व सभी प्रकार के भोजन में, स्टार्च में, दक्षी (Dextrine) में, शक्कर में और निम्नलिखित सब्ज़ियों में भी पाये जाते हैं—आलू, लौकी, तरबूज़, खरबूज़, चुकन्दर, काशीफल, केला, छुहारा, अंजीर, अंगूर तथा मुनक्का। दूध में तथा दूध से बने अन्य पदार्थों में, शहद में तथा शर्बतों में भी ये तत्त्व कुछ मात्रा में पाये जाते हैं।

(३) **हाइड्रोकार्बन्स** सभी प्रकार के तेल तथा सचिक्कण पदार्थों में मिलते हैं। इनमें ऑक्सीजन, कार्बन तथा हाइड्रोजन आदि होते हैं। पशुओं एवं वनस्पतियों से प्राप्त सभी प्रकार के सचिक्कण पदार्थ, तेल, मूँगफली, बादाम, अखरोट तथा नारियल आदि की गणना इसी वर्ग में होती है।

उपरोक्त सभी वर्गों में बताये गए खाद्य तत्त्व शरीर में उष्णता और अपरोक्ष रूप से शक्ति के उत्पादक हैं। ये तत्त्व ही मांसपेशियों, स्नायुजाल तथा नाड़ियों में स्थित पुराने कोशों का पुनर्निर्माण करते हैं।

शरीर में विद्यमान खनिज तत्त्व—इसी अध्याय के आरम्भ में वर्णित १६ तत्त्वों में से अन्तिम १२ तत्त्व हैं, जो शरीर में पाये जाते हैं। इन्हीं तत्त्वों से रक्त, हड्डी तथा नाड़ियों का निर्माण होता है। ये तत्त्व शरीर की आन्तरिक शुद्धि में सहायक हैं और अनेक प्रकार के संक्रामक रोगों से इसकी रक्षा करते हैं। ये तत्त्व शरीर में होने वाले

विभिन्न आन्तरिक कार्य-व्यापार को संचालित करने के लिए आवश्यक शारीरिक शक्ति के उत्पादक हैं। ये खनिज तत्त्व अनाजों के छिलकों में, सब्ज़ियों में, जैसे—गोभी, चुकन्दर, सोया, चन्द्रशूर, अजमोद, दुग्ध, तिक्ता (Dandelion), गाजर, हरा सेम और फलों में, जैसे सेब, नाशपाती, संतरा, नींबू, अंगूर, बेर, चैरी तथा सभी प्रकार के रसदार फलों में एवं दूध और मक्खन में भी पाये जाते हैं।

विटामिन

विटामिन रहस्यमय शरीर-पोषक तत्त्व हैं। ये सभी प्रकार के फलों, सब्ज़ियों तथा कुछ दूसरे खाद्य-पदार्थों में भी पाये जाते हैं। मनुष्य के जीवन, विकास तथा स्वास्थ्य के लिए इनका होना अत्यावश्यक है। नीचे हम इनके नाम, गुण तथा उन खाद्य पदार्थों के नाम दे रहे हैं जिनमें विटामिन प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं।

विटामिन 'ए'—यह संक्रामक रोगों से शरीर की रक्षा करता है। मनुष्यों में और विशेषतया बच्चों में शरीर की वृद्धि करता है और स्वास्थ्य की रक्षा करता है। यह त्वचा तथा फेफड़ों के बाह्य कोश-जाल का भी रक्षक है। नेत्र सम्बन्धी रोगों, जैसे आँख का लाल होना, खुजलाना (Xerophthalmia) तथा रतौंधी (Night blindness) को रोकता है और नेत्रों की ज्योति में वृद्धि करता है। सर्दी तथा जुकाम से शरीर को बचाता है, पाचन-क्रिया का सहायक है, पित्त-वृद्धि को रोकता है, गुर्दों में पथरी (Stone) नहीं बनने देता और शरीर को शक्ति प्रदान करता है।

विटामिन 'ए' का प्रमुख प्राप्ति-स्थान—सब्ज़ियों में—गाजर, अजमोद, शोषातिजीवा (Alfalfa meals), पालक, सलाद, चुकन्दर, दुग्धतिक्ता, रसशाक, सोंहजना, हरी तथा लाल मिर्च, शकरकन्द, शलजम, चन्द्रशूर, सेम, गोभी, हरी मटर और कच्चे टमाटर आदि। फलों में—बादाम, खुबानी, नाशपाती, केला, चैरी, सन्तरा, पपीता, रतालू, बेर

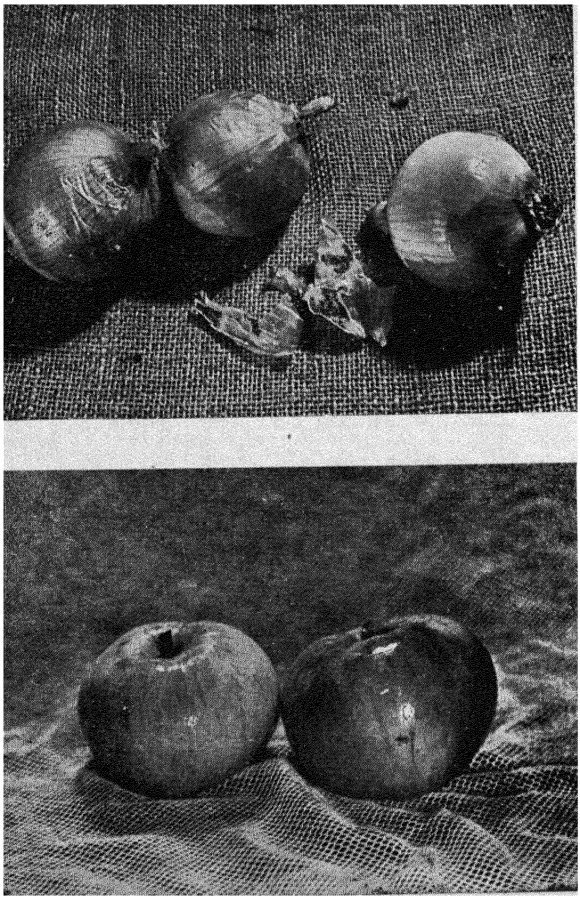

प्याज और सेब विटामिन 'सी' के प्रमुख प्राप्ति-स्थान है और स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं ।

तथा अनानास। अनाजों में—धान, संवाई, सोयाबीन, तेल तथा जैतून का तेल। पशुओं से प्राप्त खाद्यों में—मक्खन, कच्चा दूध, क्रीम, पनीर, अण्डा, भेड़ का गोश्त, गुर्दे, घोंघा (मछली)। रंगों में—विटामिन 'ए' पीले रंग के लिए विशेष रूप से अनुकूल होता है। इसीलिए इस विटामिन की शरीर में कमी होने पर ऐसा भोजन, जिसमें विटामिन 'ए' प्रचुर मात्रा में हो, करने के अतिरिक्त, विद्युत् रंगयंत्र द्वारा शरीर, भोजन तथा पेय पदार्थों पर पीले रंग के प्रयोग की सलाह दी जाती है।

विटामिन 'बी'—यह भूख को बढ़ाता है, पाचन-क्रिया में सहायता करता है, नया रक्त उत्पन्न करता है और स्नायु-जाल को सुदृढ़ करता है। स्त्रियों के स्तनों में दूध की वृद्धि करता है। जलोदर अर्थात् बलहारी (Beri Beri) रोग की रोकथाम करता है। यह नाड़ियों की शिथिलता को दूर करता है तथा अंतड़ियों और जठराग्नि सम्बन्धी विकार का नाश करता है।

प्रमुख प्राप्ति-स्थान—गेहूँ की मींगी, संवाई, खमीर, छुहारा, अंगूर, नींबू, सन्तरा, पपीता, नाशपाती, रतालू, बेर, सोयाबीन, गोभी, सलाद, मसूर, दुग्धतिक्ता, भिण्डी, अजमोद, मूली, पालक, टमाटर, राई, अनाज, जई, अण्डे की जर्दी, अखरोट, बादाम, चना, सेम आदि। इस विटामिन की रंग सम्बन्धी अनुकूलता लाल रंग में है।

विटामिन 'सी'—हड्डियों तथा दाँतों की रचना में सहायक है। रक्त की नाड़ियों को स्वस्थ रखता है। विशेषतया हृदय को और सामान्यतया ससस्त शरीर को शक्ति प्रदान करता है। आमाशय में होने वाले नासूर को रोकता है।

प्रमुख प्राप्ति-स्थान—शोषातिजीवा खाद्य पदार्थ, अंगूर, सन्तरा, नींबू का रस, गोभी, बादाम, केला, नील बदरी, चन्द्रशूर, सेब, अनानास, सलाद, मकोय, पाक बदरी, सोंहजना, अजमोद, हरी मटर, शलजम, पालक, स्ट्राबैरी, टमाटर, गाजर, प्याज, आलू, शकरकन्द। इस विटामिन की रंगीय अनुकूलता नींबू के रंग में है।

विटामिन 'डी'—हड्डियों के अस्वाभाविक कोमलता-जन्य रोग को रोकता है। रक्तस्राव और क्षय रोग से शरीर की रक्षा करता है। शरीर में कैलशियम तथा फास्फोरस आदि पोषक तत्त्वों के प्रचूषण तथा परिभ्रमण की व्यवस्था करता है। गर्भवती स्त्रियों के आहार में इस विटामिन का होना अत्यावश्यक है। यह शरीर की ग्रन्थियों के कार्य में सहायक है। कब्ज़ को रोकता है और नाड़ियों की शिथिलता को दूर करता है।

प्रमुख प्राप्ति-स्थान—कच्चा दूध, अंडे की जर्दी, नाक, दुग्धतिक्ता, शराब के झाग। इस विटामिन की रंगीय अनुकूलता नारंगी रंग में है।

विटामिन 'ई'—स्त्रियों की उर्वरता तथा क्षमता बढ़ाता है और स्तनों में दूध की वृद्धि करता है। गर्भ में स्थित जीवन की रक्षा तथा विकास में योग देता है। लिंग सम्बन्धी निमर्दता तथा नपुंसकता का नाश करता है। शरीर के पोषक तत्त्वों के परिभ्रमण में सहायक होकर स्वास्थ्य की अभिवृद्धि करता है। बालों को बढ़ाता है।

प्रमुख प्राप्ति-स्थान—गेहूँ की मींगी, पालक, चन्द्रशूर, दुग्धतिक्ता, अनाज तथा गेहूँ; सलाद, अजमोद, पालक तथा शलजम का रस। इस विटामिन की रंगीय अनुकूलता सिंदूरी रंग में है।

विटामिन 'जी' (बी^{2})—लोहे को शरीर में जज़्ब करके जीवन तथा स्वास्थ्य की वृद्धि करता है। प्रोटीन (Proteins) को भी शरीर में जज़्ब करके पोषक तत्त्वों के परिभ्रमण में सहायक होता है।

प्रमुख प्राप्ति-स्थान—खमीर, चुकन्दर, अण्डे की जर्दी, कच्चा दूध, गोभी, सोयाबीन, शलजम, गेहूँ की मींगी आदि। इस विटामिन की रंगीय अनुकूलता हरे रंग में है। आप यह जानते हैं कि शरीर में विद्यमान जितने भी खनिज तत्त्व हैं, जिनमें विटामिन की प्रचुरता है, वे सब भोजन से ही प्राप्त होते हैं। इसलिए मनुष्य यदि अधिक समय तक स्वस्थ और सुखी जीवन व्यतीत करना चाहता है तो उसका कर्तव्य है कि वह सदैव यह ध्यान रखे कि उसका दैनिक भोजन कैसा

होना चाहिए और वह कैसे तैयार किया जाय।

शरीर में पचने के उपरान्त सब खाद्य पदार्थ या तो अम्लोत्पादक हो जाते हैं अथवा क्षारोत्पादक। एक स्वस्थ शरीर में इन दोनों प्रकार के खाद्य तत्त्वों का अनुपात २०% और ८०% होना चाहिए। दूसरे शब्दों में मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिए ८०% क्षारोत्पादक तथा २०% अम्लोत्पादक भोजन करना चाहिए; क्योंकि सभी स्टार्च वाले पदार्थ, शक्कर, सचिक्कण पदार्थ और अधिकांश प्रभोजन (Proteins) अम्लोत्पादक हैं। मनुष्य के कुल भोजन का ८०% क्षारोत्पादक पदार्थ हैं जैसे हरी पत्तियों वाले शाक और फल। अतः मनुष्य को इनका अधिक सेवन करना चाहिए। प्रकृति के इस स्वास्थ्य सम्बन्धी नियम पर विचार करने से पता चलता है कि आजकल बहुत थोड़े मनुष्य ऐसे हैं जो ठीक आहार करते हैं और अधिकांश मनुष्य इन नियमों का उल्लंघन करते हैं। इसलिए यदि आजकल अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति हो रही है अथवा रोगियों की संख्या दिन-रात द्रुतगति से बढ़ रही है, तो इसमें आश्चर्य की कौनसी बात है? ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे चारों ओर फैले समाज के मनुष्यों के स्वास्थ्य में तथा रोगों में निरन्तर एक संघर्ष चल रहा है, जिसमें रोगों की विजय-पर-विजय हो रही है। यदि कुछ समय तक यही क्रम चलता रहा तो हमारा यह समाज रोगियों और अपाहिजों का समाज बन जायगा। अस्पतालों, आरोग्य-शालाओं तथा उन्मत्तालयों की संख्वा नगर और गाँव में बने पारिवारिक मकानों की संख्या से भी बढ़ जायगी। इस भयानक सामाजिक तथा राष्ट्रीय समस्या का समाधान केवल इसीमें है कि हम पुनः प्राकृतिक एवं स्वाभाविक जीवन को अपनाएँ और इस प्रकार परम पिता परमात्मा के बताये हुये मार्ग का अनुसरण करें।

स्वास्थ्य सम्बन्धी परामर्श

मनुष्य को भोजन तभी करना चाहिए जब उसे खुलकर भूख लगे।

यदि किसी समय कोई मनुष्य किसी शारीरिक या मानसिक कारण से थका हुआ है या क्रोध की अवस्था में है, घबराया हुआ है, चिन्ताग्रस्त है अथवा उसकी भावनाओं में किसी प्रकार की उत्तेजना है तो ऐसी अवस्था में उसे कदापि भोजन नहीं करना चाहिए। भोजन से तुरन्त पहले या बाद में उसे किसी भी प्रकार की मानसिक उलझनों से बचना चाहिए। इन बातों का पाचन-क्रिया पर बहुत प्रभाव पड़ता है। पीने की क्रिया को बहुत धीरे-धीरे करना चाहिए। किसी भी पेय पदार्थ को जल्दी से गले में उँडेल देना ठीक नहीं है। मुँह की लार (Saliva) को भी पेय पदार्थ के साथ मिलकर आमाशय में जाने देना चाहिए। इससे वह सुपाच्य बन जाता है। एक प्रसिद्ध स्वास्थ्य-विशारद की उक्ति है, "दूध को पीने के बजाय खाओ।"

भोजन करते समय अधिक पानी नहीं पीना चाहिए। तले हुए पदार्थों से यथाशक्ति बचना चाहिए। अधिक गर्म अथवा ठण्डा भोजन नहीं करना चाहिए। अधिक ठण्डा भोजन आमाशय की आन्तरिक त्वचा को शीतयुक्त कर देता है और अधिक गर्म उसे जला देता है। सभी प्रकार के मसाले, अचार, चटनी इत्यादि से परहेज करना चाहिए। ये सभी स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं।

नमक यद्यपि रक्त में घुल जाता है तथापि शरीर के सूक्ष्म कोश उसे ग्रहण नहीं करते। इसी कारण वह अवयवों के जोड़ों में और रक्त वाहिनी नाड़ियों में जम जाता है, जिससे गठिया रोग उत्पन्न हो जाता है और रक्त-प्रवाहिनी नाड़ियों में कठोरता आ जाती है। इस प्रकार मनुष्य रोहिणी जारठ्य (Arteriosclerosis) से पीड़ित हो जाता है।

खट्टे फलों या उनके रस को मण्डान्न (Starchy) पदार्थों से कभी नहीं मिलाना चाहिए। ऐसे फल या फलों का रस मण्डान्न भोजन से कम-से-कम आधा घण्टा पहले लेना चाहिए।

निरसन—मनुष्य-शरीर का एक प्रमुख कार्य उन सब हानिकारक एवं विषैले तत्त्वों को बाहर निकालना है जो धीरे-धीरे शरीर में होने

वाली रासायनिक प्रक्रियाओं के कारण एकत्रित होते रहते हैं। शरीर इन तत्त्वों को कई मार्गों से बाहर निकालता है—वृहदन्त्र (Colon) से, गुर्दों से, श्वास द्वारा फेफड़ों से, मुँह से, नाक से और पसीने के साथ शरीर-रंध्रों से। शरीर की सफाई तथा विषैले तत्त्वों को शरीर से बाहर निकालने की इस प्रक्रिया के लिए शरीर में पर्याप्त जल का होना आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य-शरीर को २४ घण्टे के लिए कम-से-कम ढाई सेर जल की आवश्यकता होती है। पानी पीने का क्रम प्रातः-काल से ही आरम्भ हो जाना चाहिए। यदि मनुष्य का वज़न सामान्यतया कुछ कम हो या ठीक हो तो उसे प्रातःकाल उठते ही दो गिलास ठण्डा पानी पीना चाहिए। यदि उसका शरीर भारी है तो उसे गर्म पानी पीना चाहिए। यदि आप शीघ्रता से वज़न घटाना चाहते हैं तो गर्म जल के साथ विटामिन 'बी' और 'सी' तथा पोटेशियम, फास्फोरस, सल्फर और क्लोरीन के क्षार (Salts) भी लेने चाहिए और यदि आधे नींबू का रस उस पानी के गिलास में और मिला दिया जाय तो और भी लाभकारी होगा।

यदि शरीर के विषैले तत्त्वों को घुलाकर बाहर निकाल देने के लिए शरीर में पर्याप्त जल नहीं है तो वे जिन अवयवों के सम्पर्क में आएँगे उन्हें विषाक्त कर देंगे और इस प्रकार मनुष्य के स्वास्थ्य को नष्ट कर देंगे। अनुचित भोजन एवं अपर्याप्त जल की मात्रा से मनुष्य बदहज़मी का शिकार हो जाता है। दीर्घकाल तक शरीर में होते रहने वाले ये विकार और रक्त-वृहदन्त्र तथा गुर्दों में एकत्रित हुए विषैले तत्त्वों के कारण धीरे-धीरे नपुंसकता तथा योनि-सम्बन्धी रोग उत्पन्न हो जाते हैं और मनुष्य इन विषैले तत्त्वों के रक्त में प्रवाहित होने के कारण असामान्य कामुकता का शिकार हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य कामुकता में पशु-पक्षियों से भी बढ़ जाता है और धीरे-धीरे यह असामान्य कामुकता मनुष्य को पूर्णतया नपुंसक बना देती है। क्योंकि प्रजनन-ग्रन्थियों (Gonad Glands) का विशेष कार्य तथा उनके

मल दूसरी ग्रन्थियों तथा अन्य शारीरिक अवयवों को क्रियाशील रखने के लिए अनिवार्य हैं, इसलिए नपुंसक मनुष्य शीघ्र ही अनेक रोगों में फँस जाता है और अन्ततः जीवन से ही ऊब जाता है। इसका उसके शारीरिक स्वास्थ्य तथा मन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। वृद्धावस्था आते ही उसका जीवन प्रायः नीरस हो जाता है।

आधुनिक सभ्यता के युग में कोष्ठबद्धता एक सार्वजनिक रोग बन चुका है, और लगभग ९०% रोगों का एकमात्र कारण है। कोष्ठ-बद्धता अनुचित खाने-पीने तथा व्यायाम न करने के कारण होती है। यदि कोई मनुष्य कोष्ठबद्धता से पाड़ित है तो वह १००% स्वस्थ नहीं कहा जा सकता। इन ज़हरीले तत्वों को वृहदन्त्र (Large Intestine) में देर तक पड़ा रहने दिया जायगा तो संकोचन-तरंग (Peristalsis) के विपरीत व्यवहार के कारण वृहदन्त्र पुनः मल में विद्यमान विषैले तत्त्वों का चूषण आरम्भ कर देती है, और इन्हें रक्त-प्रवाहिनी नाड़ियों में फेंक देती है। इस प्रकार ये विषैले तत्त्व रक्त में प्रवाहित होकर शरीर के अंग-अंग में पहुँच जाते हैं। ये विषैले तत्त्व मस्तिष्क के सूक्ष्म कोशों की कोमल झिल्लियों, ग्रन्थियों, नेत्रों, कोटरो तथा फेफड़ों को हानि पहुँचाते हैं। मनुष्य के पसीने तथा श्वास से दुर्गंध आने लगती है। स्त्रियों को चाहिए कि अनेक प्रकार के दुर्गंधहर, इत्र, क्रीम आदि के प्रयोग के स्थान पर वे अपने आहार की ओर विशेष ध्यान दें और जल तथा फलों का रस अधिक मात्रा में पियें। शरीर की दुर्गंध का मुख्य कारण कोष्ठबद्धता है। कोमल प्रास्टेट (Prostate) ग्रन्थि भयानक रूप से फूलनी आरम्भ हो जाती है और कभी-कभी प्रोस्टेटाइटिस (Prosta-titis) के घातक रोग में फँसकर मनुष्य जीवन से हाथ धो बैठता है। पेशाब में इन ज़हरीले तत्त्वों की प्रचुरता के कारण मूत्रेन्द्रिय की आन्तरिक कोमल त्वचा, पुरस्थ-ग्रन्थि (Prostate Gland) और सम्पूर्ण मूत्र-मार्ग झुलस जाता है। इस अवस्था में मनुष्य धीरे-धीरे नपुंसक बन जाता है और कभी-कभी तो उसकी मृत्यु भी हो जाती है।

कोष्ठबद्धता को कैसे रोका जाय ?

उपरोक्त विकारों से बचने के लिए मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है कि वह कोष्ठबद्धता से बचने के लिए हरे शाक एवं फलयुक्त भोजन को उचित मात्रा में खाये। प्रतिदिन आठ या दस गिलास पानी पिये और अप्राकृतिक तथा हानिकारक पदार्थों—केक, पेस्ट्री, कॉफी, चाय, शराब और तम्बाकू आदि—का सेवन बन्द कर दे। यह बात सदैव ध्यान में रखे कि समस्त अम्लोत्पादक (Acid Forming) खाद्य पदार्थ कोष्ठ-बद्धता का कारण हैं, और क्षारोत्पादक पदार्थ रेचक हैं। मुख्य भोजनों के मध्य समय में मनुष्य को कोई और चीज़ नहीं खानी चाहिए। हाँ यदि उसे पूरी तरह भूख लगी हो तो वह फलों का रस ले सकता है या फलों को भली प्रकार चबा-चबाकर खा सकता है। भोजन को खूब चबा-चबाकर खाना अत्यन्तावश्यक है। चिन्ता से दूर रहना चाहिए और अपने प्रत्येक कार्य को करते समय प्रसन्नचित्त रहना चाहिए। किसीसे बदला लेने, घृणा तथा लालच की भावना को मन में स्थान नहीं देना चाहिए। मनुष्य का शरीर प्रकृति से बना है और उसकी आत्मा परम पिता परमात्मा का अंश है। अतः उसे सदैव प्राकृतिक तथा ईश्वरीय नियमों का पालन करते रहना चाहिए। सभी प्राचीन एवं अर्वाचीन धर्मों की शिक्षा तथा समस्त दार्शनिकों के दर्शन का सार इसी तथ्य में निहित है।

कोष्ठबद्धता को दूर करने के लिए दो भोजनों के मध्य समय में बिना पकाये हुए बेर, ताज़ा या सुखाये हुए अंजीर और पक्के परन्तु बिना पकाये हुए सेब खाये जा सकते हैं। मानव-सभ्यता के विकास से आज पर्यन्त सेब से अच्छा रेचक पदार्थ मनुष्य को मालूम नहीं है। यह कहावत व्यर्थ ही नहीं गढ़ी गई है, "एक सेब प्रतिदिन सेवन से डॉक्टर की आवश्यकता नहीं रहती।" स्थायी कोष्ठबद्धता की अवस्था में आन्तरिक स्नान अथवा वृहदान्त्र में जल-सिंचन की क्रिया उपयोगी है।

आवश्यकता के समय अनुभवी व्यक्तियों द्वारा ही यह क्रिया करानी चाहिए।

उदर के अंगों—अंतड़ियों तथा आमाशय आदि—की आवश्यक क्रियाओं को व्यवस्थित करने के लिए निम्नलिखित व्यायाम आवश्यक हैं—प्रातःकाल शरीर को बिलकुल नंगा करके किसी दर्पण के सम्मुख सीधे खड़े हो जाइए और अपने शरीर को ध्यानपूर्वक देखिए। उस समय आपकी ठोड़ी अन्दर की ओर दबी हुई, कंधे आराम से पीछे की ओर झुके हुए, एड़ियाँ परस्पर मिली हुई तथा दोनों पैरों के अंगूठे अलग-अलग होने चाहिए। इसी स्थिति में बड़े उत्साह के साथ और मन में इस व्यायाम के उद्देश्य का स्मरण करते हुए नाक द्वारा शुद्ध वायु में एक गहरा साँस खींचकर फेफड़े को पूर्णतया फैलने दीजिए। ऐसा करते समय आप आठ तक गिनिये और पुनः आठ तक गिनते हुए साँस को अन्दर ही रोके रखिए। तदनन्तर उदर को वृत्ताकार रूप में दाईं ओर से बाईं ओर हाथ घुमाते हुए मालिश कीजिए। फिर आठ तक गिनते हुए समस्त वायु को नासिका-रंध्र से बाहर निकाल दीजिए। और इस प्रकार फेफड़ों के वायु से रिक्त हो जाने पर, उदर को सिकोड़ने तथा पुनः बलपूर्वक फैलाने की क्रिया को बार-बार दोहराइए और ऐसा करते समय आठ तक गिनते जाइए। यह व्यायाम पाँच बार से दस बार तक दोहराना चाहिए। ऐसे लोगों को, जिनका शरीर भारी है या जिनके उदर की मांसपेशियाँ व्यायाम न करने के कारण या पेटी इत्यादि के अधिक प्रयोग के कारण बहुत कमज़ोर हो गई हैं, यह व्यायाम कठिन प्रतीत होगा, क्योंकि उनका अपनी उदरस्थ मांसपेशियों पर कोई नियन्त्रण नहीं है। तथापि जैसे उदरस्थ मांसपेशियाँ अपनी सामान्य स्थिति में आती हैं, इस व्यायाम में मनुष्य को एक प्रकार के आनन्द का अनुभव होने लगता है और धीरे-धीरे यह क्रिया कोष्ठबद्धता तथा उदरशूल के लिए लाभदायक सिद्ध होने लगती है और बढ़ा हुआ पेट भी हल्का

हो जाता है। व्यायाम के समय गिनती की संख्या व्यक्ति-विशेष की क्षमतानुसार घटाई या बढ़ाई जा सकती है।

नपुंसकता कैसे दूर की जाय ?

यह अत्यन्त सुगम परन्तु परमोपयोगी व्यायाम, जिसे एकाग्रता और उत्साह से तथा इस व्यायाम से होने वाले सुपरिणाम का मन-ही-मन ध्यान करते हुए करना चाहिए, नीचे की पंक्तियों में बताया गया है, परन्तु इस व्यायाम को उस समय तक नहीं करना चाहिए जब तक व्यायाम करने वाला अपने आहार को नियमित न कर ले और प्रतिदिन आठ गिलास पानी पीने की आदत न बना ले तथा तम्बाकू और मदिरा का सेवन करना बन्द न कर दे।

विधि—प्रातःकाल उठने पर तथा रात्रि को सोने से पूर्व, स्नानागार में पैरों को चौड़ा करके खड़े हो जाइए। फिर आगे की ओर झुकिए। दाहिने हाथ के अंगूठे के पास वाली दो उंगलियों पर पर्याप्त मात्रा में साबुन के झाग लेकर गुदाद्वार और मुष्क (Scrotum) के मध्य स्थान की मालिश आरम्भ कीजिए। यह मालिश खूब दबाकर और केवल एक ही दिशा में अर्थात् पीछे से आगे की ओर करनी चाहिए। साथ ही गुदाद्वार की मांसपेशियों को खूब तानने और पुनः शिथिल करने की क्रिया तब तक बार-बार दोहरानी चाहिए, जब तक कि थकान अनुभव न होने लगे। इस प्रकार की मालिश से लिंग प्रदेश (Sex region) में नये रक्त का संचार होता है और लिंगेंद्रिय को शक्ति प्राप्त होती है। इस क्रिया की समाप्ति पर समस्त मालिश वाले स्थान को तथा लिंगेन्द्रिय को इतने ठंडे पानी से धोना चाहिए जितना कि आसानी से सहन किया जा सके।

इस व्यायाम के पश्चात् जब मनुष्य स्नान के टब में बैठा हो, तब उसे एक दूसरा व्यायाम करना चाहिए, अर्थात् गर्म और ठण्डे जल से पैरों का स्नान। उसे चाहिए कि अपने पैर को जल की टोंटी के नीचे रखे

और गर्म जल की धार पैर के निचले भाग पर और घुटने से नीचे पड़ने दे। पानी इतना गर्म न हो कि सहन न किया जा सके। यह क्रिया आधी मिनट से लेकर एक मिनट तक करनी चाहिए। फिर गर्म जल को बन्द करके ठण्डा पानी खोल देना चाहिए और उसके साथ भी वही क्रिया उतने ही समय तक करनी चाहिए। इस प्रकार दोनों पैरों पर तीन-तीन बार इस क्रिया को करना चाहिए। फिर स्नान के टब में बैठे-बैठे ही थोड़ा-सा ठण्डा जल टोंटी से अपनी हथेलियों पर लेकर उसे सारे शरीर में मलना चाहिए। इसके पश्चात् स्नान के टब से निकलकर शरीर को एक मोटे तौलिये से भली प्रकार सुखा लेना चाहिए। तत्पश्चात् पैरों और टाँगों की मालिश कोल्ड क्रीम से या बादाम रोगन से अथवा ग्लीसरीन और लाइम जूस (Lime Juice) मिलाकर करनी चाहिए। इस अन्तिम क्रिया से पैरों और टाँगों के रक्त के परिभ्रमण की गति में तीव्रता आती है और पैरों की नाड़ियों के फूलने और बढ़ने में तथा पैरों के अन्य रोगों की रोक-थाम में सहायता मिलती है।

प्रदेश उपचार (Zone Therapy) की चिकित्सा-प्रणाली के अनुसार जब पैरों की दशा ठीक होती है तो उनकी नाड़ियों का शेष शरीर पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। इस क्रिया के अन्त में पैर के अंगूठों और पैरों की मालिश से शरीर के अनेक अवयवों को स्फूर्ति और शक्ति प्राप्त होती है।

जीना सीखो

प्राणी के शारीरिक प्रकाशन का नाम ही जीवन है। सृष्टि केवल दो प्रमुख तत्त्वों पर आधारित एक प्राकृतिक घटना है, जो इस समस्त ब्रह्माण्ड में, सौर मण्डल में, मनुष्य में, समस्त प्राणी-वर्ग में तथा अन्य पदार्थों में निरन्तर घटित हो रही है। जीव और प्रकृति ये दो तत्त्व ही समस्त दृश्यमान शरीरों के प्रकाशन के कारण रूप हैं। जीव के मूल लक्षण ये हैं—चैतन्य, क्रियाशीलता एवं ज्ञान; और प्रकृति के लक्षण

हैं—जड़ता, विघटन तथा रूपान्तरण। जीव एक शक्ति है, परन्तु स्वयं अपने प्रकाशन में असमर्थ है। प्राणी रूप में आने के लिए उसे किसी स्थूल पदार्थ की आवश्यकता होती है। उस पदार्थ में जीवन का संचार कर जीव प्राणी रूप में प्रकट होता है। इस प्रकार मनुष्य दो प्रमुख तत्त्वों—जीव और प्रकृति—के मेल से बना है।

प्रकाशन-सत्ता अर्थात् जीव और पदार्थ, जिनके माध्यम से जीव प्रकट होता है, इन दोनों तत्त्वों के विकास की मात्रा में सदैव एक गहरा सम्बन्ध होता है। इस मूल सिद्धान्त के उल्लंघन करने से कोई-न-कोई उपद्रव खड़ा हो जायगा या जीव के प्रकाशन में कोई गम्भीर त्रुटि रह जायगी।

उद्भव का सिद्धान्त

प्रकृति के इस अदृश्य राज्य में उद्भिज तथा प्राणि-सृष्टि की प्रत्येक जाति के उद्भव के विषय में जब हम पीछे लौटकर देखते हैं तो हमें पता चलता है कि उनमें से प्रत्येक का एक आद्य रूप था। इन सृष्टियों के आद्य रूपों में उत्तरोत्तर उन्नति होती गई और इस प्रकार इन दोनों सृष्टियों में नई-नई जातियों की उत्पत्ति हुई। उद्भिज तथा प्राणि-सृष्टियों की इन अगणित जातियों में से प्रत्येक के गुण तथा लक्षण अलग-अलग हैं, जो पृथिवी पर उनकी विशिष्ट सत्ता के लिए आवश्यक है। इस प्रकार उद्भिज सृष्टि में अनेक जातियाँ हैं, जिनमें से प्रत्येक के आकार तथा खनिज तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं। ठीक इसी प्रकार प्राणि-सृष्टि के 'अदृश्य आद्य रूप' के नियमों के अनुसार, जिनकी अभिव्यक्ति उसकी अलग-अलग जातियों एवं भिन्न-भिन्न रूपों में होती है, जन्तु-वर्ग में भी अनेक जातियाँ हैं, जो आकार, गुण तथा प्राकृत वास की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न हैं। इसी कारण और प्रकृति के इस नियम के अनुसार एक ही जाति के समस्त पौधों और एक ही जाति के समस्त जन्तुओं में समान गुण तथा स्वभाव पाये जाते हैं और अपने निर्वाह

के लिए वे सब एक ही प्रकार का भोजन ग्रहण करते हैं। नैसर्गिक प्रवृत्ति के नियन्त्रण तथा मार्ग-दर्शन में ये अपना कार्य करते हैं। मनुष्य की भाँति कर्म करने की स्वतन्त्रता इनमें नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि मनुष्य पर इस उद्भव के सिद्धान्त का क्या प्रभाव पड़ता है। यद्यपि समस्त मानव-जाति को हम प्रमुख वंशों में विभाजित कर सकते हैं, परन्तु मनुष्यों के रूप तथा आकार में कोई विशेष भिन्नता नहीं मिलती। आखिर प्रकृति के इस उद्भव-सम्बन्धी सिद्धान्त के स्पष्ट उल्लंघन का क्या कारण है ?

क्योंकि मनुष्य प्रमुख रूप से स्वयं अर्थात् चेतन सत्ता है जो शरीर के माध्यम से प्रकट होती है। इसलिए जो कुछ भी अन्तर मनुष्यों में परस्पर पाया जाता है, वह उनके चैतन्य में है, शरीरों में नहीं। प्रत्येक मनुष्य में व्याप्त आत्मा के अदृश्य गुण तथा लक्षण उसके शरीर द्वारा प्रकट होते हैं, और यही भिन्न गुण एवं लक्षण मनुष्यों में पाये जाने वाले भिन्न प्रकार के वंशों तथा उनके भिन्न-भिन्न कार्यों का कारण होते हैं। अतः मनुष्यों में भी हमें वंश, स्वभाव, व्यवहार की सामान्य भिन्नताएँ देखने को मिलती हैं।

मनुष्य के चार भौतिक शरीर

मनुष्य चार प्रकार के भौतिक शरीरों से बना है, जो परस्पर एक-दूसरे में व्याप्त हैं। ये शरीर इस प्रकार हैं—स्थूल शरीर, ईथरीय शरीर (Etheric Body), भावना शरीर और मानसिक शरीर। जब आत्मा इन शरीरों को अपने नियन्त्रण में रखता है, अलग-अलग इनकी आवश्यकतानुसार इन्हें भोजन पहुँचाता है और इनके कार्यों को व्यवस्थित कर उनमें एकरूपता बनाये रखता है, तो स्वास्थ्य, सौन्दर्य, शक्ति, दीर्घ जीवन, आनन्द तथा सफलता की प्राप्ति होती है। जीवन के इस मूल नियम के उल्लंघन करने से मनुष्य रोगों एवं दुःखों में फँसकर अन्त में मृत्यु का शिकार बन जाता है।

स्थूल शरीर के भोजन के तत्त्व इस प्रकार हैं—प्रोटीन, हाइड्रो-कार्बन, कार्बोहाइड्रेट्स, प्रांगारिक लवण (Organic Salt) और विटामिन, जो इसके दैनिक कार्य से क्षतिग्रस्त कोशों का पुनर्निर्माण करने तथा इसे कार्यरत रखने के लिए आवश्यक हैं। ईथरीय शरीर के लिए शुद्ध वायु की उचित मात्रा आवश्यक है, जो इसकी महत्त्वपूर्ण शक्ति को बनाये रखती है। भावना तथा मानसिक शरीरों को गतिशील बनाने के लिए उचित एवं रचनात्मक क्रियाकलापों की आवश्यकता होती है। यदि मनुष्य में इन चारों शरीरों को उचित खुराक देने तथा उन्हें उचित कार्यों में प्रवृत्त करने की क्षमता नहीं है तो वह उनका सफल नियन्त्रण नहीं कर सकेगा और ये चारों शरीर स्वेच्छापूर्वक सब प्रकार के निरर्थक पदार्थों, भोजन तथा निकृष्ट भावनाओं और हानिकारक विचारों का उपभोग प्रारम्भ कर देते हैं। यही जीवन में रक्षात्मक अभाव की पराकाष्ठा है; यही हमारे आधुनिक समाज की दशा है। अधिकांश लोग अपने उपरोक्त चारों शरीरों का नियन्त्रण न कर सकने के कारण असंयम, विषमता, रोग तथा दुःख से पूर्ण जीवन बिता रहे हैं। हमारे सभी कार्य हमारी अच्छी या बुरी आदतों के अनुसार होते हैं, इसलिए हमें अच्छे तथा रचनात्मक कार्य करने की आदत डालनी चाहिए।

जिस प्रकार किसी गायक द्वारा पियानो अथवा वायलिन पर बजाये गए गीत की मधुरिमा उसके वाद्य की श्रेष्टता, वाद्य के तारों के सफल प्रयोग, कलाकार की उँगलियों की दक्षता तथा उसके गीत-सम्बन्धी ज्ञान पर निर्भर है, उसी प्रकार सफल जीवन के लिए आत्मा की उपरोक्त चारों शरीरों के नियन्त्रण-सम्बन्धी दृढ़ इच्छा-शक्ति और उन शरीरों के माध्यम से आत्मिक ज्ञान तथा चातुर्य की अभिव्यक्ति अपेक्षित है।

मनुष्य स्वभावतः शाकाहारी है

मनुष्य, जो प्राणी-वर्ग में सर्वश्रेष्ठ है, स्तनि-वर्ग (Mammalia) के प्राणियों में से है। गुरिल्ला, हाथी, गाय, भेड़ और दूसरे स्तनि-वर्ग के प्राणियों के समान मनुष्य का स्वाभाविक आहार सब्ज़ियाँ, फल तथा गिरियाँ आदि हैं। परन्तु अपने अज्ञान और स्वेच्छाचारिता के कारण उसने प्रकृति के इस मूल सिद्धान्त का उल्लंघन करके अपने स्वास्थ्य तथा सुखी जीवन को नष्ट कर लिया है। उसके अधिकांश व्यसनों का कारण इस मूल सिद्धान्त की अवहेलना ही है।

अपनी आध्यात्मिक सत्ता के कारण शाकाहारी मनुष्य महान् बौद्धिक कार्य कर सकता है। इसी कारण ग्रीस दर्शन-साहित्य के पिता तथा संसार के परम बुद्धिमान पुरुष पैथोगोरस ने क्रोटोना-स्थित अपनी यूनिवर्सिटी और दक्षिण इटली के अन्य नगरों में एक वैज्ञानिक शाकाहारी पद्धति प्रचलित की। इसलिए दूसरे अन्य सभी दार्शनिक भी कई शताब्दियों से आज-पर्यन्त पैथोगोरस की जीवन-सम्बन्धी पद्धति का अनुसरण करते आ रहे हैं, क्योंकि इसके परिणाम अच्छे और स्थायी सिद्ध हुए हैं।

केवल शाकाहारी होने से ही मनुष्य स्वस्थ, सफल और सुखी नहीं बन सकता। प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वभाव के अनुसार एवं वास्तविक ज्ञान पर आधारित जाँच और त्रुटि की प्रक्रिया द्वारा यह जान लेना चाहिए कि उसके लिए कौनसा भोजन उपयुक्त है। उसे यह भी समझ लेना चाहिए कि शुद्ध और संतुलित भोजन भी शरीर में पहुँचकर विष बन जाता है, यदि वह पदार्थों के गुण-साम्य का ध्यान रखकर न खाया जाय अथवा भोजन के समय मनुष्य की भावनाएँ कुत्सित तथा विचार क्रोध और शत्रुता से पूर्ण हों।

मनुष्य के कार्यकलाप जितने ही अधिक बौद्धिक होंगे, उसका जीवन भी प्रत्येक क्षेत्र में उतना ही अधिक परिष्कृत होगा। यदि कोई

ग्रीस दर्शन-शास्त्र के पिता पैथागोरस ने शाकाहारी पद्धति प्रचलित की थी।

मनुष्य यह सोचता है कि उसने उच्च शिक्षा प्राप्त की है और समाज में उसका एक विशिष्ट स्थान है इसलिए वह राक्षसों की भाँति अनाप-शनाप तथा भले-बुरे का ध्यान किये बिना भोजन और मादक द्रव्यों का सेवन कर सकता है और इस प्रकार प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करके उनके दुष्परिणामों से बच सकता है तथा हानिकारक कुविचारों में लिप्त रहकर भी स्वस्थ और सुखी रह सकता है, तो निश्चय ही उस मनुष्य को धोखा हुआ है। ऐसे अनियंत्रित जीवन के कारण आत्मा और शरीर का परस्पर सम्बन्ध शिथिल होने लगता है, और एक समय ऐसा आता है जब कुप्रवृत्तियों में फँसा जर्जर शरीर मानस-तरंगों के प्रकम्पनों को सहन नहीं कर सकता और आत्मा तथा शरीर का पूर्ण विच्छेद हो जाता है। यही कारण है कि हमारे कितने ही उच्च पदाधिकारियों एवं महान् पुरुषों के जीवन असमय ही समाप्त हो जाते हैं। यद्यपि इन लोगों ने पर्याप्त व्यापारिक तथा प्रशासनिक ज्ञानोपार्जन किया था और जिनकी सफलता पर हजारों मनुष्यों का जीवन अवलम्बित था, परन्तु दुर्भाग्य से जीवन-सम्बन्धी मूल ज्ञान और उस ज्ञान की कार्य रूप में परिणति से वे सर्वथा अनभिज्ञ थे। इस प्रकार की बातें हमारे समाज की दुखद दुर्घटनाएँ कही जा सकती हैं।

यह भाग्य की भयंकर विडम्बना एवं उसका क्रूर व्यंग्य है कि आधुनिक समाज के अधिकांश प्रतिभावान पुरुषों को अपने शरीरों की व्यवस्था का भी यथेष्ट ज्ञान नहीं है। मनुष्य ! "तू स्वयं को जान" और स्वस्थ तथा सुखी जीवन व्यतीत कर।

स्वास्थ्य-नियन्त्रण

स्वास्थ्य प्राणी की स्वाभाविक अवस्था का नाम है। प्रत्येक शरीर-धारी पौधा, पशु और मनुष्य जन्म के समय पूर्ण स्वस्थ होता है। उद्भव के सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि सब प्राणी अपने जीवन में प्रगति करते रहते हैं। प्रगति तभी सम्भव है जब वे पूर्णतया स्वस्थ हों।

प्रत्येक भौतिक शरीर एक अदृश्य प्रतिरूप (नमूना) पर आधारित होता है। अतः प्रत्येक पशु अपने विकास और कल्याण के लिए उसी प्रकार के भोजन ग्रहण करता है जो उसके प्रतिरूप के सिद्धान्त के अनुसार उपयुक्त हैं।

जिस प्रकार पैट्रोल-चालित यन्त्र मिट्टी के तेल अथवा क्रूड आयल से नहीं चल सकता, उसी प्रकार मनुष्य भी, जिसका स्वाभाविक आहार वनस्पति, फल तथा गिरियाँ हैं, मांसभक्षी होकर अपने शारीरिक अवयवों की क्रियाओं का नियन्त्रण तथा सामान्य दैहिक संतुलन नहीं बनाये रख सकता। नियम यह है कि प्रकृति में वर्तमान तीनों सृष्टियों में से प्रत्येक अपने से निम्नतर श्रेणी की सृष्टि को आहार रूप में ग्रहण करती है। इस मूल नियम के उल्लंघन के कारण ही मांसभक्षण की प्रथा का जन्म हुआ है। यह अनेक बार सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य की अधिकांश बुराइयों का कारण इस प्राकृतिक नियम का उल्लंघन तथा अनियन्त्रित भावनाएँ और कुत्सित विचारधारा हैं।

मनुष्य का विकास अट्ठाईस वर्ष की आयु में पूर्ण होता है। इस आयु में यह आशा की जाती है कि उसकी समस्त मानसिक शक्तियाँ पूर्णरूपेण विकसित हो चुकी हैं और इस आयु के उपरान्त वह अपने शरीर का सफल नियन्त्रण कर सकता है। यदि मनुष्य ने अपने शरीर के सफल नियन्त्रण के लिए वास्तविक ज्ञान, बुद्धि तथा इच्छा-शक्ति का संचय नहीं किया है तो नाना प्रकार के रोगों में फँसकर उसका अनिवार्य विघटन प्रारम्भ हो जायगा।

मानव-शरीर एक यन्त्र के समान है, जिस पर उसे इस प्रकार आधिपत्य स्थापित करना चाहिए जिस प्रकार वह अपने घोड़े पर स्थापित करता है और इसी आधिपत्य के कारण उस पर सफलतापूर्वक सवारी कर सकता है।

आज के अधिकांश लोग उन सवारों के समान हैं जिनको उनके घोड़ों ने फेंक दिया है। उनका शरीर घबराया हुआ है और सवार

अनिश्चित मानसिक स्थिति में है। वह घोड़े पर चढ़कर पुनः उसकी बागडोर थामने में अशक्त है। ऐसी परिस्थितियों में कोई भी मनुष्य स्वस्थ, सफल तथा सुखी जीवन का स्वामी नहीं बन सकता।

अपने सबसे बड़े शत्रु से डरो

प्रत्येक परिस्थिति में शरीर के नियन्त्रण के लिए मनुष्य में बुद्धि और दृढ़ इच्छा-शक्ति का होना आवश्यक है। इस दिशा में पहला कार्य यह है कि वह शरीर-सम्बन्धी समस्त आशंकाओं को अपने मस्तिष्क से निकाल दे। प्रत्येक शरीर-कोश का अपना अलग अस्तित्व है, जो अपनी छोटी दुनिया में अपने विषय में स्वतन्त्र रूप से अनुभव करता एवं सोचता है। जितनी भी हीन भावनाएँ अथवा भयसूचक विचार हमारे मस्तिष्क में उठते हैं वे सभी शारीरिक सूक्ष्म कोशों तथा उनके विभिन्न अवयवों को प्रभावित करते हैं। भय से उदरस्थ जठराग्नि मन्द पड़ जाती है और भोजन की पाचन-क्रिया का ह्रास होने लगता है। सौर-प्रतान (Solar Plexus) से प्राप्त होने वाली शक्ति का प्रवाह भी रुक जाता है और समस्त शरीर शक्तिहीन हो जाता है तथा उसकी क्रियाएँ विकृत हो जाती हैं।

यदि किसी मनुष्य ने अपने शरीर को शान्ति और अनुशासन द्वारा आत्मा की इच्छा-शक्ति के नियन्त्रण में रहना सिखा दिया है तो इस प्रकार के विद्रोह की परिस्थिति उत्पन्न ही नहीं होगी, यहाँ तक कि यदि किसी मनुष्य ने किन्हीं प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन भी किया हो और उससे उत्पन्न दुष्परिणाम प्रकट होने आरम्भ भी हो जायँ तो भी यदि मनुष्य विचारवान है तो वह सुगमता से शरीर के विद्रोही अवयवों का पुनः नियन्त्रण कर सकता है। वह अपने विचारों को उसी अवयव-विशेष पर केन्द्रित करके उसे ठीक मार्ग पर प्रवृत्त कर देगा। इस मानसिक प्रक्रिया से शरीर के उस स्थान में नये रक्त तथा नवीन शक्ति का संचार हो जाता है, जो उस अवयव के असंतुलन को दूर

करने में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त प्राणायाम द्वारा, नाड़ी-केन्द्रों की कुशल साधना से तथा अन्य शरीर सम्बन्धी ज्ञान की सहायता से एक दार्शनिक प्रत्येक परिस्थिति में अपने शरीर का स्वामी होता है और उसके नियन्त्रण द्वारा स्वास्थ्य, दीर्घायु, शक्ति, सफलता और समृद्धि की प्राप्ति करता है।

आजकल के अधिकांश लोगों का जीवन बनावटी है। वे स्वावलम्बन के स्थान पर प्रत्येक समय बाह्य सहायता तथा अप्राकृतिक उपायों पर आश्रित रहते हैं। आज के युग में अस्पतालों की बढ़ती हुई संख्या इस बात का प्रमाण है कि आधुनिक समाज अपने स्वास्थ्य की रक्षा में पूर्णतः असफल रहा है।

इस युग के अधिकांश मनुष्य स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त नहीं होते। वे या तो शनैः-शनैः आत्मसंहार की ओर बढ़ते रहते हैं, अथवा अप्राकृतिक औषधियों के सेवन से, जिन्हें वे अज्ञान में या अत्यन्त निराशा की परिस्थिति में अपने अमूल्य शरीरों में पहुँचाते रहते हैं, असमय में ही मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं।

जीवन की कला में प्रवीण मनुष्य के लिए जीवन एक आश्चर्य-जनक अनुभव तथा प्रकृति के पदार्थों का अद्‌भुत आनन्दमय उपभोग है। उसके जीवन की प्रत्येक अवस्था आनन्द से परिपूर्ण होती है। आयु में वृद्धि के साथ-साथ रचनात्मक ज्ञान भी बढ़ता रहता है। जिस प्रकार दिवस के अवसान पर रात्रि की सुखद गोद में श्रम-परिहारिणी निद्रा देवी सर्वत्र स्वागत योग्य है, उसी प्रकार सुखी जीवन के पश्चात् पीड़ारहित एवं स्वाभाविक रूप से आने वाली स्थायी शान्तिदायिनी मृत्यु भी स्वागत योग्य है।

वृक्ष की शाखा पर पकने के उपरान्त, फल ऋतु-विशेष में अपनी उपयोगिता और प्रारब्ध की अन्तिम अवस्था पर पहुँच चुकता है। वह बड़े सुन्दर ढंग से शाखा का हाथ छोड़कर पुनः उस धरा की गोद में आ गिरता है जो उसकी जननी है। इसी प्रकार मनुष्य भी अपने जीवन

के द्वैत धर्म के अनुसार जब पृथिवी पर अपना निश्चित कालचक्र व्यतीत कर चुकता है तो एक शान्त, प्रसन्न मुस्कान के साथ उसका अमर आत्मा उस अलौकिक दिव्य प्रदेश को प्रयाण कर जाता है, जहाँ से वह संसार में आया था और उसका स्थूल शरीर पुनः उसी मिट्टी में मिल जाता है, जिसका वह एक अंश-मात्र है। मनुष्य ! "तू स्वयं को जान", और इस जीवन में तथा आने वाले अनेक जीवनों में सुख-पूर्वक रह।

३

प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली

(प्राचीन एवं अर्वाचीन)

ईश्वर ने जीवन दिया। वह पुरुष, जो इस जीवन को रोगों से सुरक्षित रखकर मनुष्य को दीर्घजीवी बनाने में निपुण होता था, प्राचीन समाज में उसे पवित्रात्मा समझा जाता था। मारकस औरेलियस के अनुसार मनुष्य और अविनाशी देवताओं में इतना साम्य और कभी नहीं मिलता जितना उस समय मिलता है जब कोई मनुष्य अन्य मनुष्यों को स्वास्थ्य प्रदान करता है।

प्राचीन ग्रीस लोग चिकित्सकों के पवित्र कर्त्तव्य एवं देश तथा देश-वासियों के प्रति उनके महान् दायित्व को दृष्टि में रखते हुए औषधि को अपनी सभ्यता में एक उच्च स्थान दिया करते थे, और चिकित्सकों को पवित्रात्मा की सम्माननीय उपाधि से विभूषित किया करते थे। यही नहीं उन्हें औषधि के देवता—एस्कुलेपियस (Aesculapius) के पुजारी के पदों पर नियुक्त करते थे। लोगों द्वारा इस प्रकार के सम्मान से विभूषित होने के कारण उन प्राचीन इटराय (Iatroi) अथवा थ्यूपुटाय (Therapeutai) या एस्क्लेपिडाय (Asklepiadai), जिन-जिन नामों से भी लोग इन्हें पुकारते थे, का यह कर्तव्य हो जाता था कि वे अपने

जीवन तथा व्यवहार को पवित्र बनायें। इस प्रकार की चिकित्सा-प्रणाली मन्दिरों से प्रारम्भ हुई। यही मन्दिर सब देशों में और उन देशों की पुरातन सभ्यता में ज्ञान के केन्द्र माने जाते थे।

उन दिनों धर्म, विज्ञान तथा दर्शन तीनों का मानवता की सेवा के लिए एक ही पद्धति में बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ था। मनुष्य से अभिप्राय दैवी सत्ता से था, जो चार भौतिक शरीरों—स्थूल शरीर, ईथरीय शरीर, भावना शरीर तथा मानसिक शरीर—के माध्यम से प्रकट होती थी। इस तथ्य को एक दृष्टान्त के रूप में प्रकट किया गया था, जिसके अनुसार प्रकाश के देवता अपोलो को, जो पवित्र मानवात्मा का प्रतीक था, क्रैटन (एक नगर)-निर्मित तीन तारों वाले वाद्य-यन्त्र को बजाते हुए दिखाया गया था। जिस प्रकार इस वाद्य-यन्त्र से उचित प्रकार से बजाये जाने पर एक मधुर राग की उत्पत्ति होती थी, ठीक उसी प्रकार मनुष्य के चारों भौतिक शरीरों को यदि समुचित रूप से विकसित किया जाय, जो उनके माध्यम से क्रियाशील आत्मा के ज्ञान तथा चातुर्य पर निर्भर है, तो जीवन में स्वास्थ्य, बल, सौन्दर्य, समरसता, सफलता एवं सुख की प्राप्ति होती है। प्राचीन काल में जीवन को एक कला माना जाता था और इसी कारण बच्चों को सोदाहरण इसकी शिक्षा दी जाती थी। जीवन की कला प्राचीन धर्म का एक अंग बन गई थी और उसे तात्कालिक राजाओं का आश्रय प्राप्त था।

जब कोई दुर्घटना हो जाती थी या शरीर में कोई रोग प्रकट होता था तो रोगी को मन्दिर में पुजारियों के पास लाते थे, जो उसे उचित सम्मति देते थे तथा रोग की चिकित्सा करते थे। उस समय ग्रीस देश में, जो प्राकृतिक चिकित्सा की जननी माना जाता है, बहुत से प्राकृतिक चिकित्सालय थे, जिन्हें एस्क्लेपिया कहते थे। वे चिकित्सालय पहाड़ों की तलहटी में बसे ऐसे गाँवों में बनाये जाते थे जहाँ स्वच्छ जल की कोई नदी बहती हो। उन प्राचीन चिकित्सकों का पहला काम यह होता था कि वे रोगी के शरीर की आन्तरिक तथा बाह्य शुद्धि करते थे

और फिर उसे सादा एवं स्वाभाविक भोजन देते थे।

ओरेकिल द्वारा एपीडोरस के नगर एस्कुलेपियस (जो अपनी रंग-शालाओं, मंदिरों, 'थोलस' (Tholos) और अस्पतालों के लिए प्रसिद्ध है) की पुरावशेष-सम्बन्धी खोज के परिणामस्वरूप यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय के पुजारी अथवा चिकित्सक सर्जरी और शरीर-विज्ञान में निपुण थे। शरीर-विज्ञान के अन्तर्गत भावना तथा मस्तिष्क-सम्बन्धी विकारों की भी चिकित्सा की जाती थी, यह चिकित्सा 'थोलस' नाम के सुन्दर भवनों में की जाती थी। जहाँ ग्रीस के प्रमुख चित्रकारों द्वारा बनाये हुए चित्र और शिल्पियों द्वारा निर्मित सुन्दर मूर्त्तियाँ सजी होती थीं। मस्तिष्क-सम्बन्धी विकारों की चिकित्सा संगीत द्वारा की जाती थी, जिसका प्रचलन आजकल भी है।

हमें यह भी पता चला है कि विशेष परिस्थितियों में रोगी को मन्दिर में लाया जाता था और उसे रात-भर वहीं सुलाया जाता था। इस क्रिया को 'इनकायमेसिस' (Enkoimesis) कहते थे। यह सम्भवतया इसलिए किया जाता था कि पुजारी रोगी की उसके मनोविश्लेषण द्वारा चिकित्सा करता था। मन्दिर का धार्मिक, शुद्ध, पवित्र एवं आकर्षक वातावरण रोगी की भावना तथा मानसिक शरीरों को प्रभावित करके अनेक रोगों का नाश करता था।

हमारी आधुनिक चिकित्सा की मनःशरीर शाखा में नया कुछ भी नहीं है। यही प्रणाली एस्कुलेपियस तथा ट्रोफोनियस के मन्दिरों में उस प्राचीन समय में भी प्रचलित थी।

ज्ञान तथा उसका उत्तरदायित्व

प्राचीन काल के लोग ज्ञान को एक महान् शक्ति मानते थे, इसी कारण ज्ञान के संरक्षक पुजारी लोग केवल चरित्रवान, संयमी, निष्कपट, परिश्रमी और परोपकारी व्यक्तियों को ही ज्ञान का दीक्षा देते थे। पुजारी लोग इस बात का ध्यान रखते थे कि उस ज्ञान का प्रयोग

मानवता की भलाई के लिए किया जायगा, न कि उसके शोषण के लिए या उसे दासता की जंजीरों में जकड़ने के लिए। हमारा आधुनिक समाज प्राचीन काल के उन वैज्ञानिक पुजारियों से अनेक शिक्षा ग्रहण कर सकता है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि धर्म, विज्ञान और दर्शन को एकाकार किया जाय, जिस प्रकार वे प्राचीन काल में थे। धर्म के बिना विज्ञान एक नीरस एवं निर्जीव बौद्धिक अधिकार-मात्र रह जाता है, और विज्ञान तथा दर्शन के अभाव में धर्म केवल काल-गणना के भ्रम (Anachronism) से अधिक कुछ नहीं। आराधना के स्थान पर वह केवल होठों द्वारा संपादित भावनारहित संस्कार ही समझना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि समाज की प्रगति रुक जाती है और लोगों में विज्ञान के प्रति उदासीनता और तिरस्कार की भावना जड़ पकड़ जाती है। ज्ञान के साथ यदि चारित्रिक अनुशासन एवं उसके उचितानुचित प्रयोग के प्रति कर्त्तव्य-भावना नहीं है तो वह परम सुखदायी अज्ञान से भी अधिक हानिकारक है। अतः विज्ञान के प्रकाश के बिना, धर्म हमें धार्मिक, जातीय तथा राष्ट्रीय कट्टरता की ओर ले जाता है और धार्मिक भावना के बिना विज्ञान उपकार के स्थान पर मानवता का उत्पीड़क बन जाता है।

दर्शन धर्म और विज्ञान में एकरूपता लाकर उन्हें संसार के सब मनुष्यों के लिए, जातियों और राष्ट्रों के लिए ग्रहणीय बना देता है। दर्शन मनुष्यों की असमानता का निरूपण करता है। जिस प्रकार एक ही वृक्ष की दो पंत्तियाँ एक समान नहीं होतीं और न ही संसार की कोई दो वस्तुएँ एक समान होती हैं, इसी प्रकार कोई दो मनुष्य भी बराबर और समान नहीं हो सकते। प्रत्येक विचारशील मनुष्य इस तथ्य से भली प्रकार परिचित है। यह तथ्य असमानता के विश्व-सिद्धान्त पर आधारित है और यही सिद्धान्त उत्पत्ति और उद्भव का कारण है। अतः दर्शन-शास्त्र के अनुसार अधिक ज्ञान वाला मनुष्य कम ज्ञान वाले मनुष्य द्वारा सम्मानित होता है, अतः अधिक ज्ञानी मनुष्य को

सदैव निःस्वार्थ भाव से, कम ज्ञानी पुरुषों की रक्षा के लिए सचेष्ट रहना चाहिए। पैथोगोरस, जो ग्रीक दर्शन का संस्थापक और पिता माना जाता है, के शब्दों में, "वह जो मुझसे अधिक जानता है, मेरा पिता है, जो कम जानता है मेरा बच्चा है और जो मेरे समान जानता है मेरा भाई है।" जब तक लोग इस सत्य को ग्रहण करके अपने आचरण में नहीं लायेंगे, तब तक सन्तोष, समानता, शान्ति एवं सुख से वंचित ही रहेंगे।

संसार में कोई कार्य अकारण नहीं होता। एक प्राचीन ग्रीक कहावत के अनुसार, "देवताओं ने मनुष्यों को प्रयत्न के बदले में सब प्रकार के अच्छे-अच्छे पदार्थ दिये हैं।" यही 'कारण' और 'उत्पत्ति' का अचल सार्वभौम सिद्धान्त है, जिसका न तो कोई उल्लंघन कर सकता है, और न इससे होने वाले परिणामों से बच सकता है। इसलिए स्वयं पर आने वाली आपत्तियों के लिए मनुष्य स्वयं दोषी है, कोई अन्य वस्तु अथवा मनुष्य नहीं। अपने अन्तरात्मा को ऊँचा उठाकर और दर्शन-साहित्य के मूल सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य में स्वावलम्बन की भावना आ जाती है और वह अपने समाज में एक दीप्तिमान शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होता है। उसकी परोपकारी चित्त-वृत्ति से सब प्रभावित होने लगते हैं। इसके बदले में उसे भी समाज के लोगों से शान्ति एवं सुख की प्राप्ति होती है। बाइबल के एक परिच्छेद में इस प्रकार के विचार प्रकट किये गए हैं, "पड़ौसी को अपने समान प्यार करो और दूसरों से वैसा व्यवहार करो, जैसा तुम चाहते हो वे तुम्हारे साथ करें।"

स्वस्थ कैसे रहें

दर्शन-साहित्य हमें बताता है कि इस समस्त ब्रह्माण्ड की रचना प्रकम्पन के सिद्धान्त पर आधारित है। आधुनिक विज्ञान भी इस तथ्य का प्रतिपादन करता है। इस मूल सिद्धान्त से हमें निम्नलिखित बातों का पता चलता है—

(१) "मनुष्य को स्वस्थ रहने के लिए सामान्य प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना चाहिए।" उसे उसी प्रकार का भोजन करना चहिए, जो प्राणि-सृष्टि की उसी जाति-विशेष के लिए उपयुक्त है, जिसका वह सदस्य है। इसके अतिरिक्त उसे चाहिए कि उचित पेय तथा शुद्ध वायु का सेवन करे। समुचित व्यायाम, मनोरंजन तथा पर्याप्त निद्रा भी स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं।

(२) भावना-शरीर तथा चित्त-वृत्ति को स्वस्थ रखने के लिए यह आवश्यक है कि केवल स्वस्थ, रचनात्मक एवं शान्त भावों को ही चित्त में प्रवेश होने दिया जाय।

(३) मनुष्य के मनःशरीर में केवल रचनात्मक विचारों को ही स्थान दिया जाय। जिस प्रकार विष हमारे शरीर में प्रविष्ट होकर उसे हानि पहुँचाता है और कभी-कभी नष्ट भी कर देता है, उसी प्रकार दुष्ट भावना, घृणा, लालच, शत्रुता और क्रोध से दूषित विचार भी हमारे भावना और मनःशरीर को दूषित कर देते हैं।

मन के इस प्रकार विषाक्त एवं विकृत होने से आज अनेक पीड़ाओं तथा असाध्य रोगों की उत्पत्ति हुई है। चाहे कितने ही डॉलर खर्च किये जायँ, जैसा कि आजकल औषधियों की खोज के लिए किया जा रहा है, परन्तु इस प्रकार के रोगों का न तो आज कोई इलाज है और न भविष्य में ही सम्भव है। ऐसे रोगी का एकमात्र इलाज यही है कि वह अपने मन तथा भावना की पूर्णतया शुद्धि करके स्वाभाविक, शुद्ध एवं शान्त अवस्था की प्राप्ति करे। इस प्रकार वह सार्वभौम प्रकम्पन से, जोकि शान्ति, स्वास्थ्य, सौन्दर्य तथा सुख का स्रोत है, साम्य स्थापित कर सकता है और इस चमत्कार द्वारा सब रोगों का नाश हो जायगा।

जब हमारे समाज का कोई मनुष्य टाईफ़ाइड या दूसरी किसी छूत का बीमारी से ग्रसित होता है, तो नागरिक अधिकारी और डॉक्टर लोग उस रोगी को दूसरे लोगों से अलग कर देते हैं, जिससे कि रोग फैलने न पाये और इस प्रकार अन्य नागरिकों के स्वास्थ्य की रक्षा की

जा सके। फिर भी हमारे अधिकांश समाचारपत्र-पत्रिकाएँ, सिनेमा तथा रेडियो मन तथा भावना को विषाक्त करने वाली कहानियों तथा चल-चित्रों से भरे रहते हैं और किसीको भी इस विष के प्रसार से उत्पन्न विनाश की कोई चिन्ता नहीं है। उपरोक्त तत्त्वों द्वारा प्रसारित ये विनाशक विष बेखबर लोगों की भावनाओं में चुपके से घुस जाते हैं और हमारे नागरिकों तथा विशेषतया हमारे देश के नवयुवकों की विषय-लोलुप चित्त-वृत्तियों में तेज़ी से प्रवेश करके बड़ी हानि पहुँचाते हैं।

वे समस्त प्रभाव, जो हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर पड़ते हैं, मस्तिष्क के कोशों तथा भावना और मनःशरीरों में स्थायी रूप से अंकित हो जाते हैं। कालचक्र के सार्वभौम सिद्धान्त के अनुसार ये प्रभाव अनिवार्य रूप से पुनः हमारी चित्तवृत्ति द्वारा प्रकट होते हैं। बाहर प्रकट होने वाली इन कृतियों का परिमाण भीतर प्रवेश करने वाले भावनात्मक तथा मानसिक प्रभावों के समान ही होता है। यौवन सम्बन्धी दुराचार तथा समस्त अपराधों का कारण ये मानसिक तथा भावनात्मक विष ही हैं, जो उन प्रचार-तत्त्वों द्वारा, जिनका उद्देश्य जनता की भलाई करना है, बे-रोक-टोक प्रसारित किये जाते हैं।

इससे प्राचीन ग्रीसवासियों की महानता के रहस्य का पता चलता है और उस देश के बहुत से सुन्दर मन्दिरों, मूर्त्तियों तथा वहाँ की अनेकों अन्य कलाकृतियों के निर्माण के कारणों पर भी प्रकाश पड़ता है। एक सुन्दर नगर के भव्य, रमणीक और प्रेरणादायक वातावरण में, सार्वजनिक मेले और तमाशे, लोक-नृत्य और खेल, धार्मिक जुलूस और देवताओं की सामूहिक आराधना—इन सबका उनमें सम्मिलित होने वाले नागरिकों के मन तथा भावनाओं पर बड़ा ही मधुर एवं शिक्षाप्रद प्रभाव पड़ता था।

स्पष्ट रूप से ये मधुर प्रभाव कालचक्र के सार्वभौम सिद्धान्त के अनुसार उन नागरिकों द्वारा सम्पादित महान् कृत्यों के रूप में प्रकट होते थे। इस प्रकार नागरिकों के पराक्रम सम्मान, स्वास्थ्य, शान्ति, सफलता तथा सुख, सार्वजनिक हित को दृष्टि में रखकर आश्वासित

तथा रक्षित होते थे।

प्राचीन काल के लोग रंगों तथा संगीत द्वारा भी रोगों की चिकित्सा किया करते थे। रंग और आवाज़ यदि रोगों का निवारण कर सकते हैं तो रोगों की उत्पत्ति तथा मृत्यु का कारण भी बन सकते हैं। परन्तु हमारा आधुनिक संगीत वास्तव में हमारे नागरिकों तथा देश-वासियों को रोगमुक्त नहीं कर सकता। हां इसे सुनकर प्रमत्त और उन्मादी अवश्य हो सकता है।

हमारा कर्तव्य

यह दार्शनिक तथ्य एवं सुझाव मैं अपने पाठकों, अपने देश की विभिन्न चिकित्सा-प्रणालियों से सम्बन्धित चिकित्सकों, धार्मिक नेताओं तथा उनके अनुयाइयों के विचारार्थ प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिससे कि हमारे भावी समाज तथा रोगों से पीड़ित संसार की रक्षा के लिए कोई सामूहिक प्रयत्न किया जा सके।

उद्भव और सभ्यता देश और काल के चक्रों में बँधकर आते-जाते रहते हैं। जिस प्रकार एक जीवन के अनन्तर दूसरा जीवन आता है, उसी प्रकार एक सभ्यता के उपरान्त दूसरी सभ्यता आती है। भूतकाल में हमारी इस पृथ्वी के वासी जब इन सार्वभौम सिद्धान्तों का पालन करते थे, तो यहाँ अनेक महान् सभ्यताएँ फूल-फल रही थीं। परन्तु जब उन शक्तिशाली साम्राज्यों की श्वेत सभ्यताओं ने अपनी सांसारिक सफलताओं के उन्माद में इन मूल सार्वभौम सिद्धान्तों का उल्लंघन प्रारम्भ कर दिया तो इन सभ्यताओं का ह्रास होने लगा और अन्ततः संसार से इनका नामोनिशान ही मिट गया। सत्य तथा उचित कृतियों के प्रति न्याय और सम्मान की भावना से रहित, भौतिक सभ्यता से युक्त आज का संसार जीवन के चौराहे पर खड़ा है। इस अन्तर्राष्ट्रीय समस्या की कुञ्जी अमरीका के हाथ में है। दूसरे देशों का पथ-प्रदर्शन तथा नेतृत्व करने से पूर्व हमें स्वयं अपने घर का व्यवस्था करनी चाहिए और चारि-

त्रिक अनुशासन, आत्म-सम्मान और न्याय, उचित कृति तथा सत्य के प्रति आदर का प्रसार करना चाहिए।

आओ, हम सब मिलकर पाल रेवियर (Paul Revere) के समान इस भय और आशा के महत्त्वपूर्ण सन्देश का प्रचार करने का प्रयत्न करें और इस सच्चे विज्ञान, धर्म तथा दर्शन सम्बन्धी ज्ञान का अपने देश के कोने-कोने में तथा संसार के दूसरे देशों में भी समय रहते प्रसार करें।

आज समस्त संसार अमेरिका की ओर टकटकी लगाकर देख रहा है, उसके उन उच्चादर्शों तथा बुद्धिमत्तापूर्ण प्रयासों के लिए, जिनके द्वारा संसार को ज्ञान का प्रकाश मिले, उसकी रक्षा हो सके, सब प्राणियों को स्वास्थ्य की प्राप्ति हो तथा सुख, समृद्धि, अन्तर्राष्ट्रीय भ्रातृभाव और विश्व-शान्ति का मार्ग प्रशस्त हो। यही उस विश्व-रचयिता परम पिता परमात्मा की इच्छा है, आदेश है।

स्वास्थ्य और शान्ति की प्राप्ति के लिए रहन-सहन का समुचित ढंग

ईश्वर ने इस संसार की सृष्टि एक विशेष क्रम, पद्धति तथा नियम के अनुसार की है। जीवन तथा प्रकृति की अद्भुत घटना के अवलोकन द्वारा प्रत्येक मनुष्य इस सत्य से सहमत हो जायगा। प्राकृतिक नियम ही सब पदार्थों एवं उनमें व्याप्त चारों मूल तत्त्वों पर एक निश्चित क्रम में शासन करते हैं।

मशीन के लीवरों तथा गरारियों सम्बन्धी फार्मूले के ज्ञान द्वारा ही मनुष्य ने अपने लाभ के लिए यान्त्रिक शक्ति और समय की बचत करने वाली स्वयंचालित मशीनें बनाईं। आर्केमिडीज़ (Archimedes) के तरल पदार्थों के समतलता सम्बन्धी नियम के प्रयोग ने इस्पात की बनी नौकाओं तथा पनडुब्बियों का जल पर तैरना सम्भव कर दिया। इस नियम में तनिक हेर-फेर करने से नौका डूब जायगी। समस्त पुलों और भवनों का निर्माण शरीर सम्बन्धी प्रसिद्ध नियमों के आधार

पर होता है। वास्तव में मनुष्य की इस यान्त्रिक सभ्यता की इतनी प्रगति का कारण यह है कि उसने तरल पदार्थों, गैसों, बिजली और प्रकाश के परस्पर सम्बन्धों का नियन्त्रण करने वाले नियमों की खोज की है और उनका प्रयोग किया है।

मनुष्य द्वारा बनाई गई सभी मशीनें कुछ विशेष नियमों पर आधारित हैं और उन्हें चालू रखने के लिए उन नियमों का पालन करना अनिवार्य है। एक हवाई जहाज का इंजिन, जिसके विशिष्ट निर्माण के कारण उसे बढ़िया और उच्च कोटि के पैट्रोल की आवश्यकता है, साधारण पैट्रोल, मिट्टी के तेल या किसी अन्य मोटे तेल से नहीं चल सकता।

जीवन के प्राकृतिक नियम

इसी प्रकार समस्त प्राणियों, पौधों, पशुओं तथा मनुष्यों के जीवन पर भी कुछ विशेष नियमों का नियन्त्रण है। जीवन का एक मूल नियम यह है कि प्रत्येक प्राणी के शरीर के प्रत्येक कोश को प्रकृति के विशाल भण्डार से अपने लिए उपयुक्त आहार प्राप्त करना होता है। प्रत्येक किसान तथा सामान्य मनुष्य जानता है कि प्रत्येक पौधा पृथिवी से अपनी जाति-विशेष के लिए उपयुक्त आहार ही चूसता है। दूसरे शब्दों में किसी पौधे या वृक्ष की किस्म इस बात से जानी जाती है कि वह वृक्ष या पौधा पृथिवी से किस प्रकार के खनिज तत्त्व चूसता है। या अपनी विशिष्ट प्राकृतिक बनावट के आधार पर खनिज सृष्टि से वह किस प्रकार का भोजन लेता है। इस प्राकृतिक नियम के आधार पर ही पौधों और वृक्षों को अनेक जातियों में विभाजित किया गया है। इस मूल नियम के उल्लंघन से या तो पौधों तथा वृक्षों का जीवन ही समाप्त हो जाता है, अथवा उनके स्वाभाविक गुणों एवं विशिष्ट लक्षणों में परिवर्तन या विकृति आ जायगी।

एक दूसरा मूल नियम तीनों सृष्टियों—खनिज-सृष्टि, उद्भिज

सृष्टि तथा प्राणि-सृष्टि—का नियन्त्रण करता है। नियम यह है कि प्रत्येक सृष्टि अपने से निम्नतर वर्ग वाली सृष्टि को अपना आहार बनाये। इसी नियम के आधार पर सभी पौधे और वृक्ष अपना आहार उद्भिज-सृष्टि से प्राप्त करते हैं और उसके निर्जीव तत्त्वों को वे सजीव कोशों में परिवर्तित कर लेते हैं।

प्राणि-सृष्टि पर भी यही नियम लागू होता है। इस नियम के आधार पर सब प्राणियों को अपना आहार उद्भिज-सृष्टि से प्राप्त करना चाहिए। वस्तुतः अत्यधिक उन्नत प्राणी, जैसे भेड़, घोड़ा, गाय, हाथी, ऊँट, समस्त बन्दर प्रजाति और बहुत से मनुष्य इस नियम का पालन करते हैं। जब कोई पौधा या जन्तु-वर्ग का प्राणी इस प्राकृतिक नियम का उल्लंघन करके अपनी ही जाति की सृष्टि से अपना आहार प्राप्त करने लगता है तो उस पौधे या जन्तु-विशेष में एक अस्वाभाविक अवस्था की उत्पत्ति होती है। उस पौधे या जन्तु के स्वाभाविक गुणों तथा विशिष्ट लक्षणों में एक परिवर्तन आ जाता है। उसकी सामान्य प्रकृति विकृत होकर उसी सृष्टि के अन्य पौधों या जन्तुओं से भिन्न हो जाती है। पौधों या पशुओं का यह व्यापार, जिसके कारण उनमें यह अस्वाभाविक परिवर्तन होता है, स्वजाति-भक्षण (Cannibalism) कहलाता है। इस प्रकार हमें उद्भिज-सृष्टि में पाये जाने वाले कुछ पौधों के परजीवी रोग (Parsitic Disease) के उद्गम और कारण का पता चलता है। इस प्राकृतिक नियम के उल्लंघन के कारण ये पौधे विषाक्त हो जाते हैं और उद्भिज-सृष्टि के संहारक बन जाते हैं।

ठीक यही प्राणि-सृष्टि में भी होता है। इन तथ्यों से मांसाहारी जन्तुओं की क्रूर प्रकृति पर भी प्रकाश पड़ता है और इस प्रकार वे अपनी प्राणि-सृष्टि का ही भक्षण करने लगते हैं।

अक्षम्य पाप

स्वाभाविक रूप से मनुष्य एक शाकाहारी प्राणी है। जिस समय

स्वाभाविक रूप से मनुष्य एक शाकाहारी प्राणी है। यदि वह स्वजाति भक्षण का अक्षम्य पाप करता है तो उसकी गणना मांसाहारी जन्तुओं में ही होनी चाहिए।

वह प्रकृति के इस मूल सिद्धान्त का उल्लंघन करता है और स्वजाति-भक्षण का अक्षम्य पाप करता है, उसी क्षण उसकी गणना मांसाहारी जन्तुओं में होने लगती है और उसकी प्रकृति में एक मौलिक परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार के अधिकांश लोगों में मांसाहारी जन्तुओं के समान क्रूरता, निर्दयता तथा स्वार्थपरता की भावनाएँ आ जाती हैं। प्राकृतिक नियमोल्लंघन का यह अनिवार्य परिणाम उसे नियमोल्लंघन के दण्ड रूप में मिलता है।

स्वजाति-भक्षण की यह प्रथा मनुष्य की अनियन्त्रित विचारधारा एवं कृत्य और मदिरा तथा धूम्रपान से उत्पन्न विष आदि मनुष्य के लालच, स्वार्थपरता, शत्रुता, घृणा, रोग तथा समस्त प्रकार के अपराध, हत्या और लाखों की संख्या में लोगों का व्यवस्थित सामूहिक हनन अर्थात् युद्ध के लिए उत्तरदायी है।

मनुष्य जब पशु-मांस भक्षण करता है, तो उस मांस के साथ उसके विष, मूत्रिक अम्ल (Uric Acid) आदि तथा पशुजन्य स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ और प्रभाव उसके शरीर में प्रवेश करते हैं और उसकी रक्त-नालियों में प्रवाहित होकर ये मनुष्य के समस्त शरीर को विषाक्त कर डालते हैं। ये विष शरीर की सभी ग्रन्थियों को असाधारण रूप से उत्तेजित करते हैं। जब यह ज़हरीला और गंदा रक्त अन्तरासर्गी ग्रन्थियों (Endocrine Glands) तथा शरीर के भीतर अत्यन्त रहस्यमयी रासायनिक प्रयोगशालाओं, जो शरीर के विकास तथा उसकी रक्षा का कार्य करती हैं, में प्रवेश करता है तो मनुष्य की भावनात्मक एवं मानसिक वृत्तियों को भी दूषित कर देता है। इसके परिणामस्वरूप मानसिक विकारों, कुवासनाओं और कुविचारों की उत्पत्ति होती है।

जब माली अपने बाग को शुद्ध जल से सींचता है और इसके पौधों को अच्छा और उपयुक्त आहार देता है, तो पौधे विकसित होते हैं और फ़स्ल अच्छी होती है। विचार कीजिए, यदि वह माली पौधों को मदिरा और तम्बाकू के विष से सींचे और उन्हें नमक या अन्य इसी

प्रकार के किसी ऐसिड (Acid) का आहार दे, तो यह बिल्कुल स्पष्ट है कि कुछ घण्टों में अथवा दिनों में उसके बाग का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा।

युद्ध का जन्म

वास्तव में न तो सब मांसाहारी मनुष्य ही क्रूर और अपराधी होते हैं और न वे लोग ही जो मदिरा या तम्बाकू का सेवन करते हैं। एक व्यष्टिकृत आत्मा होने के नाते, मनुष्य में दूसरे पशुओं की अपेक्षा अधिक सामर्थ्य और क्षमता होती है। उसके आन्तरिक सद्गुण तथा उसकी आत्मा की शक्ति, उन दूषित प्रभावों तथा शारीरिक विकारों को बाहर निकालने के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहते हैं, जो शरीर के अवयवों को अप्राकृतिक आहार देने से उत्पन्न होते हैं। ऐसा मनुष्य निरन्तर उन भद्दी और नीच भावनाओं तथा कुविचारों से युद्ध करता रहता है, जिनका जन्म उसके आधुनिक अप्राकृतिक एवं अस्वाभाविक रहन-सहन के कारण हुआ है। उसका जीवन निरन्तर उत्तेजना और विक्षोभ में ही बीतता है, क्योंकि देश के कानून, सामाजिक प्रतिष्ठा और मानवोचित शिष्टाचार इन क्रूर और मांसाहारी प्रवृत्तियों से लड़ने में उसके मार्ग में बाधा बनकर खड़े हो जाते हैं। उसके समुचित निर्णय और इन बाधाओं को दूर करने के लिए सतत् प्रयत्न करते रहने पर भी ये क्रूर प्रवृत्तियाँ, बिना चेतावनी दिये, प्रचण्ड वेग से फूट पड़ती हैं और अनेक प्रकार से युद्ध के लिए अचेतन उन्माद के रूप में प्रकट होती हैं।

इन युद्धों में मनुष्य क्रूरता, चालाकी, यातना और विनाश के लिए भयानक मांसाहारी जंतुओं को भी पीछे छोड़ गया है। हमने किसी शाकाहारी को हत्या या अपराध करते न कहीं देखा है और न कभी सुना है। यही कारण है कि सेना के सिपाहियों को प्रतिदिन मांस का सेवन कराया जाता है, तम्बाकू सेवन के लिए प्रोत्साहित किया जाता

है और मदिरा पीने के लिए उन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता। इस आहार से निश्चय ही अच्छे सिपाहियों और भयंकर लड़ाकों का निर्माण होता है। इस प्रकार की स्थिति को आजकल सभ्यता के नाम से पुकारा जाता है।

यह सर्वविदित है कि शाकाहारी बौद्ध तथा हिन्दू लोगों में युद्ध की भावना तथा स्वाभाविक क्रूरता का अभाव पाया जाता है, परन्तु मुट्ठी-भर मांसाहारी मुसलमानों में क्रूरता फूट-फूटकर भरी होती है।

एक ही उपाय

हमें यह दृढ़ विश्वास है और इस विश्वास की पुष्टि अनेक ऐसे तथ्यों से होती है, जिनका प्रत्येक विचारशील मनुष्य को ज्ञान है कि मनुष्य की वर्तमान रुग्णता, असंयम, लालच, अपराध-भावना और हमारे नागरिकों में चरित्र-भ्रष्टता, आत्म-सम्मान तथा दूसरों के प्रति आदर की भावना का अभाव, स्वनियन्त्रण और नैतिक अनुशासन की कमी, यह सब इस पृथिवी के प्रत्येक भूखण्ड में लोगों द्वारा उपरोक्त प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन का परिणाम है। हमारे देश की और सामान्यतया समस्त संसार की वर्तमान भयानक स्थिति को न तो रुपये के बल पर बदला जा सकता है और न मनुष्य-कृत कानूनों द्वारा अथवा किसी अन्य फार्मूले या राजनीतिक प्रभाव की सहायता से ही। आधुनिक औषधि तथा अन्य विज्ञान भी इस स्थिति को बदलने में असमर्थ हैं। अपने अस्तित्व की रक्षा तथा सभ्यता से सम्बन्धित इस गम्भीर समस्या का समाधान केवल यही है कि जहाँ तक शारीरिक स्वास्थ्य का सम्बन्ध है मनुष्य पुन: उस प्रकृति की ओर लौटे, जिसका वह स्वयं एक अंग है और उसके नियमों का पालन करे। और क्योंकि उसका आत्मा दिव्यता की एक चिनगारी है, इसलिए उसे अपनी दैवी प्रकृति के आध्यात्मिक नियमों का भी पालन करना चाहिए। इस महत्त्व-पूर्ण समस्या का, जो आज हमारे देश तथा समस्त संसार के सम्मुख

उपस्थित है, केवल यही एकमात्र समाधान है।

मनुष्य ! यह तुझ पर निर्भर है कि तू इस पृथ्वी रूपी स्वर्ग में देवताओं के समान वास करे अथवा दैवी नियमों के उल्लंघन द्वारा उनके कुपरिणामों को रुग्णता एवं विपत्तियों के रूप में भोगे और रोगों से पीड़ित होकर समाज से संघर्ष करते हुए अथवा युद्ध-स्थल में लड़कर समय से पूर्व ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दे।

सुख की ओर

सुख आत्मा के चतुर नियंत्रण में भौतिक शरीर, भावनाओं तथा विचारों के सांध्वनिक कार्यों से उत्पन्न मानव-मन की एक अवस्था का नाम है। मनुष्य अपने आत्म चैतन्य के विकास के कारण प्रगति करता है। यह आत्म-चैतन्य स्वयं अपने, अपने साथी मनुष्यों के तथा प्रकृति और परमात्मा के साथ उसके मधुर सम्बन्धों का परिणाम है।

यद्यपि सुख की यह वांच्छनीय अवस्था प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत ही थोड़े मनुष्य ऐसे हैं जो इसे पाने में सफल होते हैं। सुख की तुलना एक कुशल कलाकार द्वारा वायलिन पर उत्पन्न स्वर की मधुरता से की जा सकती है। कलाकार चाहे कितना ही चतुर हो, यदि उसके वायलिन में कहीं कोई दरार हो गई है, अथवा उसके आधे तार गायब हैं, या उसकी कमानी के बाल ढीले हैं तो मधुर स्वर की उत्पत्ति असम्भव है। यदि वह कलाकार ऐसे अधूरे वायलिन से मधुर स्वर निकालने का प्रयत्न करेगा तो उसका समय व्यर्थ ही नष्ट होगा और अन्त में उसे निराशा, रंज और असफलता का मुँह देखना पड़ेगा। आजकल अधिकांश लोगों की यही दशा है। वे उस वायलिन बजाने वाले के समान हैं, जिसे जीवन का संगीत एक टूटे हुए, रोगी और अव्यवस्थित शरीर पर बजाना पड़ रहा है। ऐसे मनुष्य संसार की प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक मनुष्य को दोषी ठहराते हैं, न कि स्वयं को, जो अपने शरीर के मालिक होने के नाते सब रोगों, आपत्तियों तथा निराशा के लिए उत्तरदायी हैं।

विश्व-ज्ञान और मानसिक ज्ञान

यद्यपि कितने ही मनुष्य अनेक वर्षों तक कठोर परिश्रम और बहुत सा धन व्यय करके कालेज की शिक्षा प्राप्त करते हैं और इस प्रकार अनन्त धनराशि एकत्रित करने और अनेक लोगों पर शासन करने के लिए पर्याप्त मानसिक ज्ञान का उपार्जन कर लेते हैं, तथापि ये लोग, जो अपने जीवन में बहुत ही सफल समझे जाते हैं और जिनके जीवन वैभव को देखकर समाज के बहुत लोग इनसे ईर्ष्या करने लगते हैं, इस बात की ओर कभी ध्यान नहीं देते कि अपने शरीर की व्यवस्था कैसे करनी चाहिए और अपनी अस्वाभाविक इच्छाओं, नीच भावनाओं और स्वार्थी विचारों पर किस प्रकार नियन्त्रण रखा जाय। महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करते हुए वे सदैव असावधानीपूर्ण जीवन बिताते हैं। इसका परिणाम उन्हें अपने दुःखी जीवन और समय से पूर्व मृत्यु के रूप में भुगतना पड़ता है।

उद्दीपक औषधियों, इंजेक्शनों, मदिरापान, धूम्रपान, निद्रा लाने वाले पाउडर तथा औषधि-विक्रेता की दुकान पर मिलने वाली अन्य निरर्थक औषधियों के प्रयोग द्वारा वे अपने शरीर के स्वाभाविक स्वास्थ्य की कमी को पूरा करने का प्रयत्न करते हैं। उस मानव-जीवन को, जो प्रभु की सर्वोत्कृष्ट रचना है, ऐसा विकृत कर देते हैं कि वह मनुष्य के योग्य ही नहीं रह जाता।

ऐसे मनुष्यों की अपेक्षा तो जंगल के पशुओं का जीवन ही अधिक स्वतन्त्र और सुखी है। पशुओं में एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और वे अपनी जाति-विशेष की प्रवृत्तियों के अनुसार कुछ प्राकृतिक नियमों का बुद्धिमत्तापूर्वक पालन करते हैं। मनुष्य, जो अपने ज्ञान और स्वेच्छाचारिता की इतनी डींगें मारता है, अपने शारीरिक स्वास्थ्य के लिए, अपनी इच्छाओं, भावनाओं तथा अपने विचारों के परिष्कार के लिए, प्रकृति से सहयोग करने के स्थान पर, अपनी दैवी प्रकृति के विशेषाधिकार आधुनिक थोथी भौतिक सभ्यता की भेंट चढ़ा चुका है।

मुक्ति

जीवन हमारी आत्मा का सोद्देश्य प्रकाशन है। मानव-आत्मा के दैवत्व का सभी धर्म प्रचार करते हैं। यदि यह सत्य है और वस्तुत: है, तो पृथिवी पर मानव-जीवन दैवी सांध्वनिकता, सौन्दर्य, शान्ति और सुख का प्रकाशन-मात्र है। परन्तु इसके स्थान पर हमारी स्थिति वास्तव में क्या है ? प्रत्येक मनुष्य अपने चारों ओर दृष्टि डालकर देखें तो उसे इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ही मिल जायगा। मानवता की सबमे बड़ी आवश्यकता आज दर्शन का वह क्रियात्मक रूप है, जिसमें मनुष्य के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में स्वास्थ्य सम्बन्धी भावनात्मक, मानसिक तथा नैतिक नियंत्रण का समावेश हो। अस्वाभाविक तथा अव्यवस्थित भावनात्मकता एवं मानसिकता, मिथ्या उपदेश और झूठे पैगम्बरों की हमें आज बिलकुल आवश्यकता नहीं है।

मनुष्य ! तेरा कर्तव्य है कि तू अपने जीवन सम्बन्धी प्राकृतिक नियमों को जाने और अपने दैनिक जीवन में उनका प्रयोग करके स्वास्थ्य, शान्ति और सुख की प्राप्ति करे। जब तक तू ऐसा नहीं करेगा तेरे इस मृतप्राय जीवन का, तेरी रुग्णता, चिन्ता एवं निराशा का, युद्ध का, भावनात्मक तथा मानसिक यंत्रणा एवं तीव्र आत्मिक पीड़ा का अन्त नहीं होगा। यह प्रकृति का अटल नियम है।

सुख किसी भी मूल्य पर नहीं खरीदा जा सकता। इसकी उत्पत्ति कुछ पूर्व[illegible] कारणों से होती है। सुख उस मनुष्य को, जो जीवन में शारीरिक एवं आत्मिक नियमों का पालन करता है, सर्वश्रेष्ठ एवं दैवी पुरस्कार के रूप में ही प्राप्त हो सकता है। यही एकमात्र सच्चा मार्ग है। इसकी आज ही परीक्षा कर, और तब तुझे इस महान् सत्य का विश्वास हो।